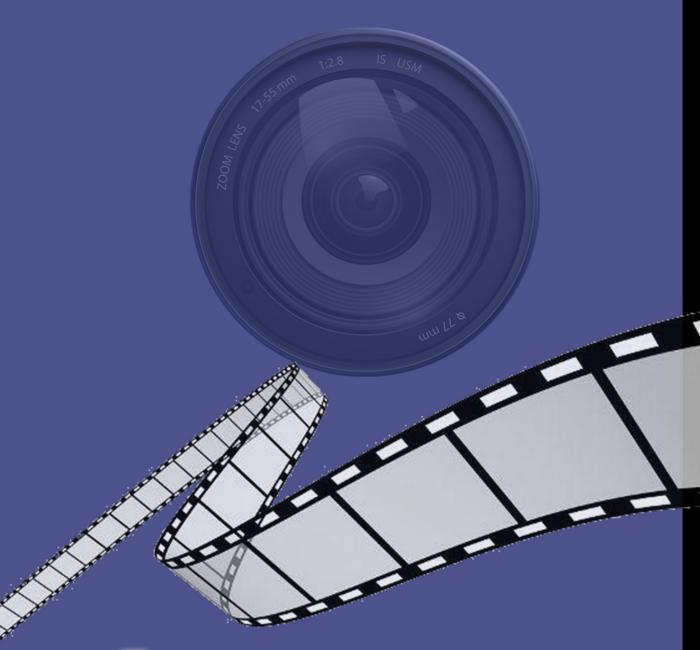
RANS RAME

A Bilungual, Bimonthly e-Magazine of Translation And Cinema:





DLUME 2, ISSUE 6

TRANSFRAME E-JOURNAL

VOLUME 2, ISSUE 6 2017



STUDY

- 🗸 संचार प्रक्रिया एवं भाषा और अनुवाद का अंतर्संबंध (भाग :1) -डॉ. जगदीश शर्मा
- 12 सिनेमा की स्मृति.. आलोचना की पिन में रेणु शर्मा
- 18 डिबंग: विज्ञान एवं कला जयंतीलाल नटवरलाल राठोड़
- 23 दलित-आदिवासियों का दमन-उत्पीड़न और हिंदी सिनेमा आलोक कुमार शुक्ल

PERSONALITY

26 REEMA LAGOO

CRITICAL EVALUATION

- ²⁸ खादी: जिसमें धड़कती है भारत की आत्मा -डॉ. सुनील यादव
- 31 Movie Review MOM

RESEARCH

- 34 वैकल्पिक विकास पर राममनोहर लोहिया के विचार-भारती देवी
- Effects of Emotional Maturity on personality amongSecondary students of District Panchkula -Dr. SunitaArya

CREATION

- 42 लेखनी : प्रदीप त्रिपाठी, विभा परमार
- 43 तुलिका मर्लिन
- 44 कैमरा शालिनी सिंह

INTERVIEW

Neelima Azeem: a trained Kathak Dancer and Actress- MD IQBAI AHMAD

TRANSLATION

47 ख़लील ज़िब्रान की कविता का हिंदी अनुवाद - मेघा आचार्य

LANGUAGE

48 हिंदी का अतीत और वर्तमान - डॉ. चरणजीत सिंह सचदेव

TF SPECIAL

59 जगदीश गुप्त के काव्य विचार: आलोचना का एक प्रयास - प्रेम प्रकाश





इस अंक के साथ ट्रांसफ्रेम अपनी यात्रा के द्वितीय वर्ष को पूर्ण कर रहा है. इस यात्रा में आप विद्व पाठकों के सहयोग के लिए हम बहुत आभार व्यक्त करते हैं. आशा है आपका प्यार इसी प्रकार हमारी यात्रा को नित नए पड़ाव की ओर अग्रेषित करता रहेगा.

हमेशा की तरह नए विचारों, आलेखों के साथ सृजन के रंगों में रंगा प्रस्तुत है ट्रांसफ्रेम का दूसरे वर्ष का आखिरी अंक।

-संपादक



PUBLISHER

Praveen Singh Chauhan

Vikas Bhawan, Shop No-7

SIDHI MADHYA PRADESH 486661

T+91 9763706428

EDITOR

Megha Acharya

Praveen Singh Chauhan

LAYOUT- COVER



©All Rights Reserved

The publisher regret that they can not accept liability for error or ommisions contained in this publication, however caused. The opinions and views contained in this publication are not necessarily those of the publishers or editors. No part of this publication or any part of the contents there of may be reproduced or transmitted in any form without the permission of publishers in writing. An exemtion is hereby granted for extracts used for the purpose of fair review.



GO DIGITAL, GO
PAPERLESS, SAVE
TREES, SAVE WATER

संचार प्रक्रिया एवं भाषा और अनुवाद का अंतर्संबंध (भाग एक)



हिंदी में हर 22 मिनट में एक बिगड़े हुए रूपक शब्द को मीडिया प्रसारित कर रहा है। यह भले ही आज प्रीतिकर लगे परंतु कहीं भाषा का यह कल्पना प्रयोजनमूलक स्वरूप अपनी व्याकरणी निष्ठा से दर जा रहा है। संचार-माध्यमों की भाषा में भले ही प्रयोजनमूलकता के कितने ही पुट उसमें क्यों न हों, प्रकार्यात्मक रूप में भी भाषाई मानदंड की अपेक्षा तो होती ही है।

डॉ. जगदीश शर्मा

एसोशिएट प्रोफेसर

अनुवाद अध्ययन

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त

विश्वविद्यालय

मैदान गढ़ी

नई दिल्ली 110068

संचार शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ उस सूक्ष्म प्रक्रिया को इंगित करता है जिसे भारतीय परंपरा के ध्विन आचार्यों ने रस-आस्वादन अथवा चर्वण कहा है। वास्तव में संचरण की संपूर्ण प्रक्रिया इतनी अंतरंग और हृदयग्राही है कि सफल संचरण से प्राणिमात्र न केवल अपने परिवेश से साधारणीकृत हो जाता है अपितु वह एक उद्देग से रोमांचित भी हो उठता है। जनसंचार की वर्तमान अवधारणा भी ध्विन आचार्यों द्वारा अभिप्रेत साधारणीकरण अथवा सामान्यीकरण का ही एक विस्तृत स्वरूप है, जिसके माध्यम से शब्द व्यापक परिवेश में संचरित होकर व्यापक अंतराल पर स्थित संपूर्ण विशाल जन-समुदाय को अपनी आनंदलहरी अथवा अर्थ-ग्राहकता में निमिज्जित कर देता है। संभवतः यह सर्व-दिक प्रसारित संदेश का ही आस्वादन है जो आस्वादनोपरांत भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी एवं व्याभिचारी भावों जैसे विभिन्न चरणों में प्रसृत होकर स्थायी भाव अर्थरूप में प्रसृत संदेश बन जाता है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में इस सूक्ष्म संचरण की विस्तृत व्याख्या प्राप्त होती है। आधुनिक पश्चिमी विचारधारा का लातिनी मूल का शब्द कम्युनिस (communis) भी इसी से अनुप्राणित है जिसका अर्थ है 'संचार' अर्थात अनुभव का सार्वभीम अधिग्रहण'। यही तत्त्व अंग्रेजी शब्द कम्युनिकेशन के मूल में है। मेगीनसन ने भी इसे समानुभूति की प्रक्रिया अथवा शृंखला कहा जो एक 'संस्था-समाज' के विस्तारित सदस्यों को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर तक जोडती है।

संचार शब्द के जिस अर्थ से हम आज परिचित हैं वह वस्तुतः उस संदर्भ में है जिसमें हम उसे संवाद के अर्थ में समझते हैं। यह किसी सीमा तक अनिर्वचनीय या भावप्रवणता की प्रक्रिया भी है जो समाज में संपन्न होती है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जो 'मॉस कम्युनिकेशन' शब्द का प्रयोग होता है वह साधारणीकरण या commonest अथवा Generalizations या Univerlisation का ही पर्याय है जो प्राचीनकाल से भारतीय समाज में औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप से अनेक विधाओं में घटित होता आया है।

विश्वविख्यात विज्ञापन एजेंसी के स्वामी विलियम मास्तिलर (1981) का मत है कि संचार केवल शब्द नहीं है, यह चित्र या नानाविध संकेत-मात्र अथवा गणितीय संकेत या विज्ञान प्रतिरूप भी नहीं है अपितु यह विशुद्ध रूप से मानवीय प्रयास है, जिससे शून्यता से निकलकर अपने संवेग बांटने और उन्हें आगे बढ़ाने का कार्य किया किया जाता है। आज हम संचार की परिकल्पना उस संदर्भ में ही करते हैं, जिसमें 'विश्वग्राम' या 'सार्वभौम' संदेश हमारे दैनंदिन जीवन की अनिवार्य चर्या है। हम वस्तुतः संचार युग में जी रहे हैं, आज "संचार" शक्ति या विकास की परिभाषाओं को चरितार्थ करता नजर आता है। संचार ही परिवर्तन की भूमिका भी निर्मित और निर्धारित करता है। बीसवीं सदी में विश्व के परिदृश्य में हुए बदलाव इस कथन की पृष्टि करते हैं कि संचार एक विकासात्मक नियामक है जो सतत बदलाव या अग्रोन्मुखता की ओर प्रेरित करता है। एवरेस्ट ऍम रोजर्स का विचार है कि

जहां-जहां भी बदलाव आया है, वहां-वहां संचार की भूमिका विशिष्ट संदर्भों में महत्वपूर्ण रही है। अभिप्राय यह कि वैश्विक स्तर पर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में राजनैतिक, आर्थिक और भौगोलिक बदलाव संचार प्रक्रिया के परिणाम थे। हाल ही की घटनाओं का भी अगर विश्लेषण किया जाए तो प्रतीत होगा की स्प्रिंग और जास्मिन जैसे महत्वपूर्ण राजनैतिक एवं रणनीतिक बदलाव-क्रांति के सूत्रपात के आधार में वर्तमान युग की सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी की भूमिका रही है। जनसंचार की बहु-आयामी भूमिका में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व रणनीतिक जैसे अनेक आयाम शामिल हैं।

'जनसंचार, जन एवं संचार दो शब्दों का एक युग्म है जिसके बहुआयामी अर्थ है। शार्ट आक्स्फोर्ड अंग्रेजी शब्दकोश के अनुसार "जन" शब्द सकारात्मक व नकारात्मक, दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होता है। भीड़, सैलाब या अनियंत्रित (जन) समूह आदि नकारात्मक भाव व्यक्त करते हैं, वहीं समाजिक समूह के रूप में यह सकारात्मक अर्थ का द्योतक है। सामूहिक इच्छा, शांति और लक्ष्य प्राप्ति के उद्देश्य हेतु यह सकारात्मक भाव देता है। इसमें व्यष्टि का लोप होकर केवल समष्टि ही बन जाना लक्ष्य है। 'संचार' शब्द से अभिप्राय है - स्वेच्छा व परेच्छा से संकल्प-ज्ञान भाव आदि को विभिन्न माध्यमों द्वारा प्रसारित, प्रचारित व बांटने आदि की प्रक्रिया। विल्वर श्राम व वीवर के अनुसार संचार उन सभी प्रक्रियाओं का सामूहिक स्वरूप है जिनके माध्यम से एक सोच दूसरों को प्रभावित करती है, जबिक शाचस्टर का कथन है कि संचार एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से शक्ति की सत्ता प्रदर्शित की जाती है। यह निश्चित है कि संचार में संकेत, शब्द, लिपि, चित्र, आरेख अदि सभी का प्रयोग किया जाता है। संचार एक ऐसी प्रक्रिया है जो सामान्यतः व्यापक अर्थ में ही प्रयुक्त होती है तथा इसमें एक मस्तिष्क दूसरे मस्तिष्क से प्रभावित होता है। जे. पाल लीगन्स का मत है कि संचार के माध्यम से ऐसे सभी विचारों, तथ्यों, अनुभवों अथवा प्रभावों का विनिमय किया जाता है जिससे प्रत्येक प्राप्तकता संदेश का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वास्तव में यह संप्रेषक व प्रापक के मध्य किसी संदेश विशेष या संदेश शृंखला प्राप्त करने के लिए की गई सम्मिलित क्रिया है। लुमिक बगल के अनुसार संचार एक प्रक्रिया है जिसमें सामाजिक व्यवस्था के द्वारा सूचना, निर्णय और निर्देश दिए जाते हैं और यह एक मार्ग है जिसमें ज्ञान, विचारों और दृष्टिकोणों को निर्मित अथवा परिवर्तित किया जाना निहित रहता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जनसंचार एक ऐसी क्रिया है जिसके माध्यम से अभिप्रेत अथवा इंटेंट (ज्ञान एव सूचना आदि) का संचार होता है। इससे व्यक्तियों, समाजों और राष्ट्रों के मध्य आपसी संबंध कायम होते हैं। वस्तुतः यह संस्कृति, हितों व विशिष्ट जानकारियों और आपसी हितों के सभो उद्देश्यों की पूर्ति हेतु की गई एक प्रक्रिया है। वर्तमान विश्व में सूचना तकनीक की अभूतपूर्व क्रांति ने संचार की प्रक्रिया को महाक्रांति के रूप में बाजार व ज्ञान के प्रसार को एक तरह से आप्लावित कर दिया है और यह दैनिक जन-जीवन का अनिवार्य उपांग बन गया है। किसी सीमा तक जनसंचार की उत्तमता आज आधुनिकता या विकासशीलता का भी पर्याय है।

जनसंचार - मॉस संस्कृति की संकल्पना

अधिकांश यूरोपियाई व पश्चिमी देशों की अपेक्षा भारत जैसे बहुसांस्कृतिक व बहुभाषिक देश में मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार working proletariat जैसी संस्कृति अर्थात मॉस संस्कृति नहीं हो सकती है। वास्तविकता यह है कि अपनी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, भाषिक और धार्मिक पृष्ठभूमि के अनुरूप हम आज भी अपनी नगरीय संस्कृति की अपेक्षा पारंपारिक भारतीय ग्रामीण जीवन-शैली से ओत-प्रोत हैं और यह ग्राम्य भारती ही भारतीय जन-मानस की द्योतक है। जन संचार को परिभाषित करते चार्ल्स राईट (1983) का कहना है यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें एक विशाल विविधतापूर्ण परोक्ष श्रोता व दर्शक समूह रहता है, जबिक mass शब्द की समाजशास्त्रीय परिभाषा देते हुए हरबर्ट ब्लूमर (1946) का मत है कि 'मास' शब्द चार लक्षणों से सूचित होता है, इसमें यह कि 'मास' के सभी प्रतिभागी जीवन के सभी संवर्गों से होते हैं (from all walks of life), वे परोक्ष एकल प्राणी

होते हैं (anonymous individual), उनमें आपस में अति-न्यून संवाद या अंत:क्रिया होती है (little interaction) तथा वे सब आपस में अनजान रूप में संबद्ध होते हैं (loosely organized)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मास' से तात्पर्य एक विशाल संचार लक्षित वर्ग से है जो अलग-अलग सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि से होता है और उनके सरोकार व्यक्तिनिष्ठ होते हैं। भाव यह कि वे अपनी अपनी आवश्यकतानुसार संचार की अपेक्षा रखते हैं।

मॉस कम्युनिकेशन या जनसंचार का सामान्य अभिप्राय जन-मानस तक किसी माध्यम का उपयोग कर सूचना, शिक्षण व मनोरंजन को पंहुचाने से है। इसे **डेनियल लर्नर** के शब्दों में इसे mobilite multiplier कहा गया है, जबिक विल्वर श्राम ने इसे magic multiples का नाम दिया है। इस परिप्रेक्ष्य में सुप्रसिद्ध भारतीय संचार विशेषज्ञ केवल **जी. कुमार** (1981) का यह वक्तव्य महत्वपूर्ण है कि जन-माध्यम सूचना, शिक्षण व मनोरंजन को पंहुचाने में मात्र प्रक्रियात्मक तत्त्व हैं, ये स्वयं में संचार नहीं हैं। अभिप्राय यह कि संचार तो सामग्री अथवा कथ्य या संदेश का ही होगा। माध्यम तो केवल सुगमक अथवा catalyst या facilitator हो सकता है। **डी. एस. मेहता** (1979) का विचार है कि जनसंचार का सामान्य तात्पर्य है - सूचना, विचार व मनोरंजन का आधुनिक संचार-माध्यमों (यथा- रेडियो, टेलेविजन फ़िल्म, पत्र पत्रिकाओं, विज्ञापन) अथवा पारंपरिक माध्यमों (जैसे- नृत्य, नाटक, व पुतलिका नृत्य आदि) द्वारा प्रसार-संचार। एक और विशेषज्ञ **बी. कृप्पुस्वामी** (1976 ''वर्तमान औद्योगिक समाज में जन -संदेश के प्रौद्योगिकीय एवं संस्थागत आधार पर व्यापक उत्पादन एवं विस्तारण को ही जनसंचार मानते हैं।" **जेनिस मेक्निल** मानते हैं कि जनसंचार को परिभाषित करना अति दुष्कर है, क्योंकि यह समाज, स्थान और संदर्भ में समाज विशेष की अपेक्षाओं और परिवादों से प्रभावित होता है। परंतु यह तो स्पष्ट है कि जनसंचार अपेक्षाकृत व्यापक, बहुलक्षित तथा सैद्धांतिक और परोक्ष रूप से व्यापक लक्ष्य समूह को संबोधित होता है। यह संस्था, माध्यम, संदेश, लक्षित तथा अपेक्षित प्रभावों जैसे कारकों की सम्मिश्रित प्रक्रिया है जिनके माध्यम से व्यक्तियों, संस्थाओं और राष्ट्रों के मध्य व्यक्ति, भाईचारा सहयोग एवं विकास संबंधी बदलाव लाने का प्रयास निहित रहता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जनसंचार एक प्रक्रिया है जो अपने निहित उद्देश्य अथवा लक्ष्य प्राप्ति हेतु आधुनिक, परंपरागत और विस्तारित मीडिया द्वारा अपने मंतव्य अनुकूलन हेतु संदेश प्रस्तुति करती है। पीटर लिटल भी मानते हैं कि संचार एक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सूचना व्यक्तियों व संगठनों के बीच संप्रेषित की जाती है और इससे आपसी समझ बढ़ती है।

जनसंचार के अप्रतिम लक्षणों में उसका लाखों-करोड़ों लोगों को आपसी चर्चा, विचार विमर्श, अनुभव बांटने व प्रतिक्रिया द्वारा विचार प्रक्रिया में शामिल करना अति-महत्वपूर्ण है। बीसवीं शताब्दी में प्रौद्योगिकी में हुए आविष्कारों ने इस प्रक्रिया को एक यथार्थ का रूप दे दिया है। तथापि जनसंचार के मुख्य बिंदुओं पर चर्चा करते हुए **डेनिस मेक्विल** ने कुछ क्रमबद्ध मुद्दों की प्रस्तावना रखी है। प्रथमतः, वे कहते हैं, जनसंचार ज्ञान सूचना, विचार व संस्कृति के निर्माण और विस्तारण से संबंधित है। दूसरे यह कि पूरे समाज व प्रतिभागी घटकों को आपस में जुड़ने तथा प्रतिक्रिया देने हेतु एक माध्यम प्रदान करता है। तीसरे- यह माध्यम पूर्णतः जनांकित है अर्थात यह जन-मानस के स्तर पर घटित होता है, चौथे इस माध्यम में प्रतिभागिता पूर्णतः स्वैच्छिक होती है। अर्थात यदि कोई व्यक्ति इसमें भाग लेना, इसे पढ़ना, सुनना या देखना नहीं चाहता है तो वह ऐसा करने के लिए स्वतंत्र है। और पाँचवां यह महत्वपूर्ण पक्ष है कि जनसंचार अनिवार्यतः अपने कार्य, तकनीकी गुणों और वित्तापेक्षा के करण उद्योग एवं वित्त से विलग्न नहीं है। अंततः यह मीडिया प्रत्येक समाज की विधि-व्यवस्था एवं वैचारिक-वैधता के कारण किसी न किसी रूप में राज्य कि सत्ता से भी संबद्ध होता है। वाटसन (2003) अध्ययन की भाषा के क्रम में मानते हैं कि जनसंचार वर्तमान समय का सबसे प्रभावशाली विमर्श है, अतः सत्ता के उपयोग के रूप में सत्ताधारियों द्वारा संस्कृतियों व राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रोता/ दर्शकों की अवधारणा को प्रतिकूल रूप में प्रभावित करने में जीन बौद्रिलार्द के तथाकथित blizzard of signifiers अर्थ निहितता के इंजावात के रूप में जन संचार के प्रति-प्रभावों की गहन संवीक्षा जारी है।

जनसंचार परोक्ष एक प्रकार से परोक्ष संदेश (anonymous) होता है अतः संप्रेषक व प्राप्तकर्ता के मध्य अंतराल के कारण यह संदेश व्यक्तिनिष्ठ न होकर वस्तुनिष्ठ स्वरूप में संप्रेषण करता है जो एक प्रकार से To whom it may concern जैसा ही होता है, अर्थात लक्षित स्वयं अपने उद्देश्य को असंख्य संदेशों में से पहचानकर केवल अपने उपभोग या उपयोग को ग्रहण करता है।

जनसंचार एक तात्कालिक उद्देश्यपरक, सुनियोजित एवं सुगठित प्रक्रिया होती है। तत्काल प्रतिक्रिया अथवा प्रतिपृष्टि प्राप्त हो, यह आवश्यक नहीं, क्योंकि प्रतिपृष्टि केवल सांस्थानिक रूप से भारी निवेश और ढाँचे के सहयोग से ही प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए श्रोता, दर्शक, पाठक सर्वेक्षण ब्यूरो या संरचित परियोजना आदि की व्यवस्था से ही प्रतिपृष्टि प्राप्त की जा सकती है। अतः जनसंचार के प्रभावों व उसके सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक महत्त्व के मूल्यांकन हेतु विधिवत श्रोता अनुसंधान की आवश्यकता बनी रहती है। उन्नीसवीं, बीसवीं तथा इक्कीसवीं शताब्दी में विश्व परिदृश्य पर भौगोलिक, वैचारिक और राजनैतिक परिवर्तनों ने जिस प्रकार अपने प्रभाव से नए स्वरूप व मूल्यों को जन्म दिया है उससे सिद्ध हो जाता है कि जनसंचार-माध्यम परिवर्तन के लिए अपरिहार्य ही नहीं अपितु वे इस प्रकार के बदलाव को ठोस आधार प्रदान कर नए समाज की रचना करने में समर्थ है। जनसंचार आज सही मायनों में संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था में समानांतर शक्ति के रूप में स्थापित हो चुका है। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री श्यामाचरण दुवे ने जनसंचार को संपूर्ण समाज, व्यवस्था और तकनीकी के पूरक के रूप में देखा है। अन्य चिंतक भी सामाजिक परिवर्तन में इसकी भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हैं। भारतीय परिदृश्य में भी संचार-माध्यमों ने जन-मानस को प्रभावित करने की सुदृढ़ क्षमता प्राप्त कर ली है। आधुनिक युग में संचार-माध्यम एक संदेशवाहक के रूप में भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रहे हैं।

संचार प्रक्रिया

संचार प्रक्रिया मूलतः एक से दूसरों तक सूचना, संकल्प, अभिवृत्ति आदि को पंहुचाने की गतिविधि है। चार्ल्स कुले के अनुसार यह मानवीय संबंधों के होने, बनने आदि जो मानसिक संकेत दूरी को कम करने हेतु विकसित होते हैं और जो भविष्य में भी बने रहते हैं यह उनकी व्यवस्था है। अर्थात संचार एक मनोभाषिक गतिविधि भी है। अतः संचार व्यवस्था को समझाने में दो मुख्य पहलू महत्वपूर्ण हैं, पहला - यांत्रिक साधनों की पर्याप्त समझबूझय और दूसरा सूचना प्राप्ति, प्रभावकर्म, प्रोत्साहन, मजोरंजन, विश्वात्मकता आदि, जैसे दैनंदिन व्यवहार इसका उपयोग (यानि ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग जिसमें संदेश का स्रोत, संदेश और लक्ष्य प्रमुख हैं)। संचार-माध्यमों की भाषा संबंधी आवश्यकताओं पर ध्यान देने से पूर्व संचार माध्यमों की प्रकृति पर चर्चा करना संगत होगा। सभी संचार-माध्यमों को राजनीतिक विज्ञानी हेराल्ड लासवेल (1948) के पदक्रम को जानना लाभप्रद होगा।लासवेल ने कहा कि संप्रेषण को पांच प्रश्नों द्वारा परखा हा सकता है, ये हैं कौन कहता है, क्या कहता (कहता है), किस माध्यम से (कहता है), किस को (कहता है) और किस प्रभाव से (कहता है)। यह जानना महत्वपूर्ण है कि श्रोता कौन है, संदेश क्या है, माध्यम कौन सा है, लक्ष्य की प्रकृति क्या है और कथ्य संदेश कितना प्रभावी बनाया जाना अपेक्षित है। स्वभाविक है भाषा प्रत्येक चरण पर प्रभावकेंद्रीय बिंदु बनी रहती है। न्यूसम और बोलेर्ट (1988) के अनुसार भीडिया लेखन के लिए सदैव संदेश, माध्यम और श्रोता तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक हैं। ये तीनों ही समस्त संचार प्रक्रिया के केंद्र में रहते हैं।

संचार व भाषा

मानव सभ्यता के प्राचीनतम आविष्कारों में से भाषा का प्रादुर्भाव एक महत्वपूर्ण घटना है। भाषा या भाष् कथन-वचन के अनेक रूप हैं। सभ्यता के प्रारंभ में विभिन्न प्रकार की ध्वनियां अभिमत को प्रकट करने भाषा प्रयोग में लाई जाती थीं। इसी कारण मेघों की गर्जना, मेघों का बरसना, बिजली की चमक के साथ गर्जना आदि विशेष प्राकृतिक ध्वनियां भय, सौख्य और आक्रोश-आवेगादि भाव व्यक्त करने वाली ध्वनियां आज भी प्रयुक्त होती हैं। इसी प्रकार खग-कलरव, कोलाहल तथा मयूरादि की पीहू-पीहू

व कोयल की कूक जैसी मधुररव ध्वनियां आज भी बनी हुई हैं। ज्यों-ज्यों मानव-सभ्यता का विकास हुआ मनुष्य ने अपने हर्ष, विषाद, संवेग, आक्रोश और तुष्टि आदि की अभिव्यक्ति हेतु इन्हीं प्राकृतिक ध्वनियों को अपना लिया। यहां तक कि इन सभी भावों व उद्देगों को भित्ति चित्रों के रूप में उकेरा जिनके माध्यम से विभिन्न मानवीय भावों (moods) को समझा गया। कालांतर में यह काल विशिष्ट के चिंतन, विश्वास और परंपराओं का संप्रेषण करने में समर्थ हो सका। यहां तक कि प्राचीन मंदिरों, गुफाओं व शिलालेखों में महाकाव्यों व ऐतिहासिक गाथाओं को चित्रों के माध्यम से व्यक्त किया गया। आस्ट्रेलियाई महाद्वीप में एब्रोयेजिनल गुफाओं, हड़प्पा व मोहनजोदड़ों में खननोपरांत प्राप्त अवशेष, अजंता एलोरा गुफाओं के भितिचित्र तथा खजुराहो में लास्य गीतिकाओं के चित्रण और कंबोडिया में खमेर रूज द्वारा निर्मित अंगकोर वाट मंदिरों में विशिष्ट आकृतियों के माध्यम से अनेक धार्मिक और ऐतिहासिक गाथाओं का वर्णन प्राप्त होता है। यही आरेखण शनैः शनैः आगे चलकर प्रयोजन लिपि के निर्माण में सहायक सिद्ध हुए। विश्व की अनेक भाषाएं आज भी इन आरेखण चिह्नों के समीप हैं, विशेष रूप से चीनी व जापानी भाषाएं। वस्तुतः यह संप्रेषण की प्रारंभिक अवस्था थी।

मानव ने अब निश्चित रूप से प्रगति कर प्रौद्योगिकी के प्रयोग से संप्रेषण के अनेक उपाय व भाषा वैविध्य खोज लिए हैं और आज हम अत्याधुनिक संचार युग में चरम रूप से विकसित भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। तथापि विगत तीन-चार दशकों में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी में हुए विकास के कारण संचार-माध्यमों में भाषा को लेकर गंभीर प्रश्न उभर कर सामने आए हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि बहुआयामी जनसंचार के कारण भाषाई संकट उत्पन्न हो गया है। चूँकि संचार के माध्यमों में फ़िल्में, टेलीविजन, रेडियो तथा समाचार पत्र प्रमुख हैं और भाषा की प्रकृति परिवर्तनशील है, अतः इन माध्यमों में भी भाषाई परिवर्तन स्वाभाविक रूप से परिलक्षित हो रहे हैं। नई मीडिया-भाषा आज प्रयोग में है। इसका स्वरूप कैसा है यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। हम जानते हैं कि रेडियो की भाषा में जो सरलता सहजता और अपनत्व होता था आज उसमें गित व फास्ट-जीवन के तत्त्व मिल कर उसे एक नया स्वरूप उसे दे रहे हैं। रेडियो कार्यक्रम विविध श्रोता वर्गों के लिए होते हैं। युवाओं, ग्रामीण एवं शहरी महिलाओं के लिए, स्वाथ्य, खेल, विज्ञान व साहित्यिक सभी प्रकार के कार्यक्रमों में आधुनिक तकनीक के प्रयोग बढ़ रहे हैं तथा दैनिक जीवन की गति एवं तेजी उसमें भी देखी जा रही है। रोजगार, धनार्जन, और आपसी रिश्तों में नए आयाम आज के रेडियो की भाषा को बदल रहे हैं। उसमें पारंपरिक भाषिक मूल्य तथा आंचलिकता आज की नई पीढ़ी की मोबिल जिंदगी के आयामों से बदल रही और सामाजिक सरोकार की वस्तु होने के कारण भाषा में ये सभी तत्त्व दिखाई दे रहे हैं। टेलीविजन की भाषा को लेकर भी मीडिया एवं भाषा विद्वान इस गंभीर चर्चा में है कि उसकी भाषा का स्वरूप कैसा होना चाहिए। केवल पश्चिमी अनुकरण ही भाषा की अंधी दौड़ का कारण है अथवा आधुनिकता के नाम पर अंग्रेजी का प्रयोग हिंदी पर लाद कर मीडिया की किस भाषा का निर्माण किया जा रहा है, यह एक गंभीर प्रश्न है। क्षेत्रीय भाषाओं को प्रसार माध्यमों में क्या स्थान मिलना चाहिए? विकासशील और एशियाई महाद्वीप के देशों के प्रसारण माध्यमों में भाषा का क्या प्रारूप होना चाहिए? क्षेत्रीय भाषाओं में संचार लोगों को किस प्रकार संयोजित करता है तथा वह किस हद तक आम जन को प्रभावित कर रहा है? आज यह जानना आवश्यक है कि संचार माध्यम बेहतर संगीत और दृश्य श्रव्य सामग्री से धारदार व प्रभावशाली बन रहा है। परंतु भारत में कुल संचार का आधे से अधिक अंग्रेजी में हो रहा है। यह किस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है यह विचारणीय मुद्दा है। संचार आज ऐसी प्रक्रिया बन चुका है जिसके माध्यम से विश्व भौगोलिक सीमाओं से निकलकर एक परिवार या सिकुड़ता परिवार बन गया है। इसमें भाषा का संप्रेषण तत्त्व अति-महत्वपूर्ण है। रेडियो ने जहां भाषा के रस का सरोवर रूप अपनाया है वहीं एक अन्य विधा ने उसे स्क्रीन-परदे पर लिखकर परोसा। संपूर्ण विश्व में सिनेमा ने भाषा को एक नई तकनीक और मुहावरे के साथ प्रस्तुत किया। स्क्रीन की परिकल्पना भाषा की उन्नति का क्रांतिकारी चरण था और इसी का अत्याधुनिक रूप हमारे सामने टेलीविजन के रूप में आज है, एक नई बानगी है जो वास्तव नए भाषायी रंगों का एक इंद्रधनुष बनाता है। रेडियो, टेलीविजन और वर्तमान न्यू-मीडिया के तथाकथित signifier के झंजावात के आगे दर्शक और श्रोता पर असंख्य निहितार्थ संचार का सैलाब है, उसमें से वह मूल के साथ गौण तथा प्रक्रिया में संबद्ध अर्थों को भी ग्रहण करता है। अतः इस मूल तथ गौण एवं संबद्ध अर्थ के प्रति अनुवाद प्रक्रिया में सचेतता आवश्यक है।

जनसंचार के क्षेत्र

जनसंचार के ही अंतर्गत भाषा के प्रयोग का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है- पत्र-मुद्रित अर्थात प्रिंट मीडिया। समाचार पत्रों को कुछ पत्रकार शुद्धतावादी नजिरये से चलाने का प्रयत्न करते हैं। यह सच है कि पत्र-अर्थात प्रिंट संचार मूलतः औपचारिक भाषा का प्रयोग करता है, जिसमें प्रचलित शब्दावली का प्रयोग निहित रहता है। दुर्भाग्य से पूरे भारतीय प्रिंट मीडिया पर अंग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। शैली भी कमोबेश वही रहती है। यह सत्य है कि आज भी अधिकांश समाचार सामग्री अंग्रेजी एजेंसियों से ही प्राप्त होती है, तथापि हिंदी में समाचारों की शैली व भाषा हिंदी भाषी समाज और भाषाई मुहावरे की होनी चाहिए। भाषा जब संप्रेषण बिंदु पर पहुँच कर यदि अपने व्याकरणीय तरीके से शून्य हो जाए तो वह माध्यम नहीं रह जाती है। स्क्रीन की भाषा के साथ अनेक व्याकरणिक प्रयोग किये जाते रहे हैं, क्योंकि इसे देखा और सुना जा सकता है, उसे ध्विन प्रभावों और दृश्याविलयों से और गहरे में मिथित किया जा सकता है, फिर भी भाषा को अपना व्याकरणी-मानक-स्वरूप और मुहावरा तो बचाए रखना ही चाहिए। संचार माध्यमों में भाषा के लिए यह ऊहापोह का दौर भी है। पिजिन और क्रियोल हिंदी के अप-स्वरूप हिंगलिश के स्वरूप में देखने को मिल रहे हैं।

संचार माध्यमों, विशेषकर प्रसारण की भाषा में सजीवता तथा सजगता, भाषा का आकार प्रकार तथा प्रकृति भाषा लक्षणों को अपने आप में समेटती है। उसमें हमारा परिवार, गली-मोहल्ला, आदतें और अतीत तथा वर्तमान दिखाई देता है। और इसीलिए यह टकसाली रूप अपनाकर कई बार व्याकरण का अतिक्रमण करती प्रतीत होती होती है, विशेषकर विज्ञापनों की भाषा में तो व्याकरण के नियम टूट ही जाते हैं, भाव और कथ्य का धारदार व सर्वग्राह्य होना भाषा का उत्तम मानक होता है। यही आपसी संवाद की भाषा होती है। विज्ञापनों के अनुवाद में अनुवादक की सर्जनात्मक प्रतिभा की पूरी परीक्षा होती है, क्योंकि इस प्रक्रिया में अनुवादक को भाषा के कई स्तरों से गुजरना पड़ता है। कौशलयुक्त अनुवादक मूल विज्ञापन जैसी रोचकता को तो बनाए ही रखता है, परंतु कभी-कभी अपने बेहतर प्रभाव से यह अनूदित विज्ञापन अधिक सुंदर, सर्जनात्मक और साहित्यिक भी बन जाता है। Thums up: Taste the thunder- थम्स अप, तूफानी ठंडा, और beautiful, beautiful fresca- सुंदर, सुहाना फ्रेस्का, go on guess my age- बोलो बोलो क्या है मेरी उम्र? (गोस्वामी पृ 38) यहां taste, beautiful, go on और guess जैसे शब्दों को पूर्णतया बदल कर हृदयग्राही लय, भाव तथा अर्थ में परिणत कर दिया गया है।

संचार-माध्यमों की भाषा साहित्यिक अथवा तकनीकी लेखन की भाषा से इसलिए भी भिन्न होती है कि यह हमें आस पास से जोड़ती है, वास्तव में भाषा में प्रयोजनमूलक तत्त्व का होना नितांत अनिवार्य है। इसे बनाए रखना अत्यंतावश्यक है। भाषा में प्रयोजनमूलकता के कारण कई बार व्याकरणीय मानकीकरण मापदंड निष्क्रिय होते नजर आते हैं परंतु इससे भाषा अपने तत्त्व को खो भी देती है और एक नए स्वरूप में परिवर्तित हो जाती है।

संचार-माध्यमों के रूप में प्रिंट माध्यमों की भाषा की सशक्तता की महत्ता है, समाचारों का शीर्षक, अक्सर भाषा के सशक्त संप्रेषण का उत्तम उदाहरण है, परंतु उसका विस्तार मानकीकृत भाषा का भी उदहारण है, हालांकि प्रसारण माध्यमों में भाषा श्रोता, दर्शक और पाठक या लक्ष्य को अपनी ओर आकर्षित करती है तथापि आंचलिक प्रिंट और प्रसारण माध्यमों में एक बड़ी समस्या अंग्रेजी का अनापेक्षित प्रभाव है जिससे भाषा का आंचलिक स्वरूप गायब हो रहा है। कुछ विद्वान भले ही इसे भाषा का विस्तार या उसका आयामीकरण कह दें पर भाषाई दृष्टि से यह चिंताजनक स्थिति है।

संचार-माध्यमों की भाषा का एक और गुण उसका खुलापन व प्रयोगधर्मिता अथवा सुग्राह्यता भी है। हर पल यहां शब्दों के

साथ नए प्रयोग या नए-नए शब्द गढ़ना जारी रहता है। सुप्रसिद्ध मीडिया लेखक के. के. रत्तू (1998) का मानना है कि हिंदी में हर 22 मिनट में एक बिगड़े हुए रूपक शब्द को मीडिया प्रसारित कर रहा है। यह भले ही आज प्रीतिकर लगे परंतु कहीं भाषा का यह कल्पना प्रयोजनमूलक स्वरूप अपनी व्याकरणी निष्ठा से दूर जा रहा है। संचार-माध्यमों की भाषा में भले ही प्रयोजनमूलकता के कितने ही पुट उसमें क्यों न हों, प्रकार्यात्मक रूप में भी भाषाई मानदंड की अपेक्षा तो होती ही है। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि क्या केवल प्रयोजनमूलकता का तत्त्व भाषा में प्रमुख है या भाषिक व्याकरणीय रूप का होना भी अपेक्षित है? संभवतः वर्तमान की प्रयोजनमूलकता से हटकर यदि भाषा के भविष्य के स्वरूप पर विचार किया जाए तो व्याकरणीय तत्त्वों की रक्षा का प्रश्न भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

संचार-माध्यमों पर विश्व बाजार भी व्यापक रूप से प्रभाव डालता है। तकनीकी के प्रभाव और ग्लोबीय संस्कार भाषा के साथ लगातार नए प्रयोग करने का दबाव बनाए रखते हैं। ग्राम्य से कॉस्मोपोलिटीन और फिर वैश्विकता के प्रश्न निर्बाध रूप से भाषा को अपना स्वरूप क्षण-प्रतिक्षण बदलने के लिए आधार दे रहे हैं। आज हमारा ड्राईंगरूम एक लघु सद्य विश्व चलचित्र स्क्रीन बन चुका है, अतः भाषा का प्रश्न केंद्रीय बनेगा ही, या यूँ कहें कि भाषा गौण हो रही है, प्रभाव, ध्विन, दृश्य, कल्पना, कार्टून, एनिमेशन त्रि-आयामी प्रभाव भाषा के संप्रेषणीय तत्त्वों का अपहरण कर मानो उसे शून्य बनाने पर आतुर हैं।

संचार-माध्यमों की भाषा जिस तीव्र गित से हम तक पहुंचती है इससे भविष्य में एक प्रसारण भाषा का भी उदय हो सकता है। उसका व्यवहार क्या होगा यह विचारणीय है। कुछ समीक्षकों को डर है कि यदि संचार माध्यम लगातार केवल प्रयोजनमूलकतापरक भाषा को ही गितमय बनाए रखते हैं तो उसके व्याकरणीय तत्त्वों के निरंतर हास से वह नए रूप में उदित हो जाएगी। आज भी महानगरों की अपनी भाषा तो हो ही गई है, उनके दैनंदिन व्यवहार का अपना मुहावरा है, उसी प्रकार संचार-माध्यमों की भी अपनी ही तरह की भाषा है, इसके उदहारण आजकल के टेलीविजन धारावाहकों में साफ देखे-सुने जा सकते हैं।

संचार की भाषा के लिए कथ्य को संप्रेषित करना ही मुख्य लक्ष्य होता है। अतः कोडीकरण व विकोडीकरण के प्रित लेखक को विशेष ध्यान देना होगा। शब्द अपने आप में कोई वस्तु नहीं अपितु ये केवल लक्षण हैं जो वास्तविकता को पूर्णतः व्यक्त नहीं करते हैं। शब्द अपने संदर्भ को मुश्किल से ही पूरा कर पाते हैं। शब्दों का संदर्भ-शून्यता में शायद ही कोई अर्थ हो, क्योंकि वे अलग -अलग पिरिस्थितियों में अलग-अलग अर्थ व्यक्त करते हैं। यही महत्वपूर्ण बिंदु संचार-माध्यमों के अनुवाद में भी अर्थ-अभिव्यक्ति-संप्रेषण के केंद्रीय तत्त्व बन जाते हैं। अर्थ ग्रहण की प्रक्रिया के दौरान श्रोता या प्रेषक के कथन का माध्यम व भाषांतरण के दौरान अर्थातिशय या अर्थापकर्ष होने की आशंका बनी रहती है। **डा. प्रभाकर माचवे** का आलेख संचार-माध्यम और दशा (1988) इस ओर संकेत करता है, जब वे कहते हैं कि संचार-माध्यमों में लोक-भाषा का लिखित रूप और जन-भाषा का समतोल बहुत जरूरी है। विज्ञापन, ब्रोश्युर व इसी प्रकार के संचार में भाषा बोझिल हो जाती है, वह लगभग सीधे अनुवादित होकर विशिष्ट वर्ग के लिए ही होती है और कभी तो यह केवल विज्ञापन मात्र के लिए ही हो जाती है। हालांकि पिछले दशक में इसमें बदलाव आया है और जब से एल.पी.जी। (लिब्रलाईजेशन, प्रायिवेटाईजेशन तथा ग्लोबलाईजेशन) अर्थात उदारीकरण निजीकरण तथा वैश्वीकरण आदि से व्यापार-जगत प्रभावित हुआ है, विज्ञापन की भाषा आंचलिकता व ग्राम्य-परिवेश का भी प्रतिनिधित्व करती नजर आनी शुरू हो गई है। माचवे जी का भी यह मत है कि पत्र-पत्रिकाओं में भाषा का ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि स्वाधीनता संग्राम और जनजागरण में इनकी महती भूमिका है, परंतु ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में सभी दैनिक, साप्ताहिक व मासिक पत्रों में आज भी पिष्ट-पेषण मात्र ही हो रहा है, उन्हें मौलिक लेखन को प्रोत्साहित करना चाहिए। जयंत नार्लीकर और यशपाल की सहज, सरल और सुबोध भाषा को आगे बढ़ाने की नितांत आवश्यकता है।

भाषा को सफल संचार में अपनी भूमिका के रूप में अधिक समर्थ होने के लिए उसके सरलीकरण और सहज स्वरूप की

आवश्यकता है। और, एवं, तथा आदि में कोई झगडा अथवा अंतर्विरोध तो है ही नहीं, बस भाषा को सेतु रूप में अपनाने की इच्छा हो तो दीवारें अपने आप ही टूट जाती हैं।

तकनीकी व वैज्ञानिक संचार में भाषा की समझ और भी आवश्यक है। इसमें जहां पठनीयता का सूत्र तो सामने रहना ही चाहिए वहीं श्रोता, दर्शक या पाठक वर्ग को ध्यान में रखना भी अनिवार्य है। काल्पनिक पाठक के लिए विज्ञान वार्ता अथवा वृत्तचित्र या लंबे-लंबे शोध आलेख लिखे या प्रसारित नहीं किए जा सकते हैं। इसी प्रकार संभावित दर्शकों या पाठकों की अपेक्षाओं और आवश्यकताओं को जाने बिना टेलीविजन कार्यक्रम या साइंस फीचर बनाना निरुद्देश्य हो होगा। अतः अनिश्चित पाठक, अस्पष्ट उद्देश्य, भाषा दुरूहता, शैली की एकरसता आदि किसी भी संचार माध्यम के लिए घातक हैं। लिक्षित को लगातार अपने परिवेश से जोड़ना और दैनंदिन अनुभवों को जोड़ने वाली भाषा, छोटे-छोटे वाक्यों, निश्चयात्मकता और ठोस उदाहरणों का होना अनिवार्य हो। तकनीकी सामग्री का अनुवाद करते समय भी पर्याय चयन में स्थानीयकरण या स्वदेशीकरण तथा स्थानीय अभिव्यक्तियों व उदाहरणों के माध्यम से क्लिष्ट संकल्पनाओं के हल प्राप्त होने की गुंजाइश बनी रहती है।

(आगे का भाग अगले अंक में.....)



सिनेमा की स्मृति.. आलोचना की पिन में...



क्या हमें आलोचना की
जरूरत है? क्या आलोचना
भी सिने दर्शक के साथ वैसा
रिश्ता कायम कर पाती है
जैसा सिनेमा करता है? ये
सारे सवाल हमें वार्नर
हरजीग के उस मशहूर सूक्ति
की याद दिलाते हैं जो
उन्होंने सिनेमा के संदर्भ में
कही थी "आपको फ़िल्म
की तरफ़ सीधे देखना होगा,
उसे देखने का यही एकमात्र
तारीका है। फ़िल्म विद्वानों
की नहीं, बल्कि अनपढ़
लोगों के लिए रची गई कला

रेणु शर्मा शोधार्थी है।"

आदमी उतना भर ही है जितना स्मृतियों ने उसे बचा लिया है गीत चतुर्वेदी

स्मृतियों में सिनेमा और इतिहास की उलट बांसी...

इतिहास को जितना उलट-पलट कर देखते हैं उसके रंग उतने ही सतरंगी होते जाते हैं। हम किसी एक रंग पर हाथ रखते हैं उनवान किसी दूसरे रंग में खुलता है। सिनेमा का अपना इतिहास भी कुछ इसी तरह का है जिसके अपने पन्ने कई कहानियां लिए हुए समय के कितने पिहये दौड़ा देता है। अभी-अभी की ही तो बात थी कि हम 100 साल की कोई कहानी सुन रहे थे और किसी ने हल्के से कहा...अरे सिनेमा तुम तो जवान हो गए और उसने हीरामन की तरह पलटकर गमछा पीठ पर मारते हुए गाड़ी और तेज दौड़ा दी।

यह देखना कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है कि क्या भारत में सिनेमा इतिहास के साथ-साथ सिनेमा आलोचना का भी कोई इतिहास बनता है? और अगर है तो उसे किस तरह देखा गया है ? मनोरंजन यदि इसका मूल चिरित्र है तो इसके अपने ख़ासे टूल्स कौन से और क्या है। दुनिया का कोई भी सिनेमा अगर मनोरंजन के लिए पैदा हुआ है तो भारत और पश्चिम के सिनेमा में सिद्धांतः ज्यादा अंतर नहीं है।1 अंधेरे में झाँकने की आदत से मजबूर दर्शक दुनिया के हर कोने में एक-सा है किंतु भारत में अंधेरे और उजाले का संसार भावनाओं के बिंबों तक ही सीमित है? ये सिनेमा का सवाल है या आलोचना का इसे समझने की जरूरत है।

इतिहास खंगालते हुए हम पाते हैं कि सिनेमा कल्पना या कहानी कहने का एक नया माध्यम भर ही नहीं है जो नॉवेल, परिकथाओं, मिथकों और पारसी रंगमंच, नौटंकी जैसे माध्यमों से आगे का माध्यम था। जैसे वॉल्टर बेंजामिन अपनी चर्चित यांत्रिक पुनरुत्पादन की मीमांसा में कहते हैं- "फ़िल्म ने अभी तक अपने असली अर्थ को अपनी वास्तविक संभावनाओं को सिद्ध रूप नहीं दिया है...ये तो प्राकृतिक माध्यम द्वारा और विश्वास कराने की योग्यता के साथ हर उस चीज़ को अभिव्यक्त करने की इसकी अद्वितीय क्षमता से निर्मित होता है..जो परिकथा समान है; शानदार है; अलौकिक है"।2 यानि इसका जन्म ओरल ट्रडीशन से माने तो3 हिंदुस्तान में इसके विकास और आधार स्वतः खुल पाए। सौ साल का इतिहास, जादुई पिटारे की व्याख्या से शुरू

हुआ जिसमें शुरुआत को लेकर ही बहस दिखती है (अलग-अलग स्रोतों में पहली भारतीय फ़िल्म बनने का काल अलग-अलग लिखा जाता है, 1897 साल से 1900 तक)। भारतीय सिनेमा के जनक सखाराम भाटवाडेकर उर्फ सवे दादा है (लिमिएर-बंधुओं के मशीन से मोहित होकर एक कैमरा खरीदा और आस-पास जो भी दिलचस्प लगा, उसे अपने कैमरे में कैद करने लगे। इस समय की भारतीय फ़िल्में पश्चिम से मिलती-जुलती थीं, जो कि सिर्फ वास्तविकता दिखा रही थीं) तो धुण्डिराज गोविंद फाल्के की राजा हरीशचंद्र को पहली भारतीय फ़िल्म गिना जाता है। वहीं पश्चिम में पहली डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म से गणना शुरू होती है। फ़िल्म आलोचक तत्थना षुलोई इस गणना अंतर को भारतीय सिनेमा को समझने का दार्शनिक आधार मानतीं हैं और प्लूटो की गुफा दीवार4 को भारतीय मानस प्रवृत्ति, जिनके लिए वास्तव माया है और सिनेमा सच अतः भारत में सिनेमा सपनों का कारखाना5 जैसा है जिसके लिए मनोरंजन महत्वपूर्ण तत्व है। सिनेमा की शुरुआत से ही सच और सपने का संघर्ष सवे दादा और फाल्के की फिल्मों से परिलक्षित होता है। जो आगे चलकर एक बड़ी विभाजन रेखा कला सिनेमा और मुख्यधारा का सिनेमा बन जाता है। सिनेमा का इतिहास लंबा नहीं है, लेकिन जो है वह बहुत विविधतापूर्ण है; जिसमें संभावनाएं लगातार बनी रहती हैं, जिसके लिए मनमोहन चड्ढा की बात सटीक बैठती है। ये कहते हैं कि "अपनी अस्मिता को पहचानने, उसे दूसरे देशों के सिनेमा से अलगाने और अपना निजी मुहावरा खोज पाने की बेचैनी ही हिंदी सिनेमा को सार्थकता प्रदान करती हैं"6।

लेकिन इस विविधता भरे इतिहास में आलोचना का भी तो कोई न कोई संघर्ष रहा होगा। यदि है तो जरूर उसके बुनियादी आधार भी होंगे और उसकी यात्रा भी। तब इसे दो भागों में देखा जाना चाहिए। एक हिंदी सिनेमा की अपनी यात्रा और दूसरा आलोचना में सिनेमा की यात्रा। सिनेमा और आलोचना के संबंध को समझते हुए हमें माध्यम के सवाल को भी समझना होगा। जैसे सिनेमा एक माध्यम है छिवयों का, वहीं आलोचना ने शब्दों को माध्यम के रूप में चुना (कम से कम भारत में तो इसके यही औज़ार रहे हैं, पिश्चम ने भले ही इसे आगे बढ़कर छिवयों को छिवयों के जिरये काटा हो न्यू वेव से निकली धारा जहां त्रुफ़ों, आंद्रे बाजा, इसी सिलिसिले को आगे बढ़ाते हैं।) तब ये संभावना बढ़ जाती है कि दोनो के संप्रेषण में अंतर पैदा हो? या न भी हो? यह शोध का विषय है। किंतु सिनेमा माध्यम 'छिव' और आलोचना माध्यम 'शब्द' के सामंजस्य से उपजे संसार में जब तीसरी छिव प्रवेश करती है तो उसे क्या कहा जाएगा? ये सवाल जुड़ता हुआ उसी केंद्र से मिल जाता है कि सिनेमा को समझा कैसे जाए।

हमारी सामुहिक स्मृतियों में सिनेमा का स्वरूप उससे इतर किसी अन्य माध्यम (शब्द या चित्र) में ज्यादा देर ठहरता नहीं है। हम अपने सिनेमा को उसकी अपनी निजी व्याख्या और संबंध में ही याद रखते हैं, जिसमें किसी अन्य का प्रवेश हमारी अपनी मनोदशा की निर्मित पर निर्भर होता है। अतः हमारी सामुहिक चेतना में प्रवेश करने के लिए अन्य को भी हमारे निजी व्यवहार के मुहावरे से गुजरकर ही हम तक आना होता है। जैसे मुझे इतिहासकार रिवकांत की बात याद आती है "सिने अध्ययन में चाहे हिंदी सिनेमा हो या भारतीय सिनेमा इसकी वाचालता, प्रगल्भता इसके बातूनीपन को नज़र अंदाज़ करते आए हैं। जबिक हम भाषा में ही सिनेमा को याद रखते हैं इसको रिले कहते कहते हैं इस लिहाज़ से सिनेमा का रिश्ता बाक़ी माध्यम से बहुत मजेदार बनता है - चाहे वह छाप माध्यम हो या मौखिकता का, याददाश्त का, माध्यम हो। हम कहते सुनते हैं, बहस करते हैं, समीक्षा करते हैं सिनेमा हौल

से निकलते ही-सिनेमा यानि पर्दे से छूटते ही सिनेमा का क्या होता है, अपनी हमारे ज़ेहन में, हमारी वाणी में। फिर प्रिंट आता है, जहां साहित्य, पत्रकारिता, राजनीति पहले से हावी है, वहाँ सिनेमा कैसे अपनी जगह तलाशता है, पत्रिकाओं के संपादक किस तरह से सिनेमा से मुखामुख होते हैं।" अब देखने वाली बात ये हैं कि जहां वे ये कह रहे हैं कि हम सिनेमा को भाषा में ही याद रखते हैं तो वे सिनेमा के उस बातूनीपन की ओर इशारा कर रहे हैं जिसे भारतीय सिनेमा की खासियत माना जाता है, जैसे- डायलोग्स, स्टीरियो टाइप जुमले, सीन सीक्वेंस। लेकन वे आगे जब ये कहते हैं कि 'फिर प्रिंट आते हैं वह पत्रकारिता और राजनीति में अपनी जगह खुद बनाते हैं' तो वहाँ वे ये चूक रहे हैं कि उस जगह सिनेमा अपना स्वरूप बदल देता हैं। और हमारी बात को बल मिलता है कि दर्शक अपने निज़ी मुहावरे में ही उसे याद रखता है जिसे वो माध्यम के बदलने पर अपनी एक नया लिबास देता है। जैसे साहित्य या आलोचना।

इस तरह सिनेमा से दर्शक एवं पाठक का संबंध विलग होता है। तब सवाल ये बनता है कि क्या हमें आलोचना की जरूरत है? क्या आलोचना भी सिने दर्शक के साथ वैसा रिश्ता कायम कर पाती है जैसा सिनेमा करता है? ये सारे सवाल हमें वार्नर हरजौग के उस मशहूर सूक्ति की याद दिलाते हैं जो उन्होंने सिनेमा के संदर्भ में कही थी "आपको फ़िल्म की तरफ़ सीधे देखना होगा, उसे देखने का यही एकमात्र तारीका है। फ़िल्म विद्वानों की नहीं, बल्कि अनपढ़ लोगों के लिए रची गई कला है।"

II

एक नज़र इतिहास की तरफ़ भी....

पश्चिमी देशों की तरह हिंदुस्तान में सिनेमा आलोचना दार्शनिक अनुशासन की तरह विकसित नहीं हुई, बल्कि यहाँ उसका रिश्ता पत्रिकारिता के अपने ढांचे और साहित्यिक मान्यताओं के आधार पर ही खड़ा हो पाया। सबाल्टर्न स्टडीस के साथ पैदा हुए अकादिमक विमर्शों के परिणाम स्वरूप रंगमंच एवं सिनेमा जैसे विषय कला संकाय के अंतर्गत विश्व विद्यालयों में शामिल हुए, लेकिन उनका स्वतंत्र विकास होना अभी बाक़ी है। भारत में सिनेमा आलोचना की शुरुआत अखबार एवं पत्रिका के जिरये हुई7। अतः कई बार इस तरह की बहसें भी उठती हैं कि क्या अखबारी आलोचना को फ़िल्म आलोचना कहा जाना चाहिए? फ़िल्म समीक्षा और फ़िल्म आलोचना को लेकर भी भ्रम की स्थित बनी हुई। ये सर्वविदित है कि भारत में सिनेमा का अपना इतिहास जितना अनूठा और सिलसिलेवार रहा है पश्चिम की तरह उसकी व्याख्या या आलोचना का संसार उतना व्यवस्थित नहीं रहा। हमारी स्मृतियों में जिस तरह सिनेमा की कहानियां रची बसी हैं उसी तरह उसकी व्याख्या या आलोचना का कोई तार अटका नहीं मिलता। इसके अपने कारण हैं, लेकिन वरक़ उलटते ही हम पाते हैं कि दुनिया के साथ-साथ भारत में भी फ़िल्म का संबंध पत्रिकारिता से उतना ही पुराना है जितना उसके आरंभ का। फिरोज रंगून वाला का सहारा लें तो वे लिखते है "भारत में सिनेमा लेखन का इतिहास भारतीय सिनेमा जितना है पुराना है। सन 1896 -97 से 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में फ़िल्म संबंधी लेख छपने शुरू हो गए थे। 'पुंडलीक और 'राजा हरिशंद्र' ऐसी पहली दो फ़िल्में थीं, जिन पर फ़िल्म समीक्षक की कलम चली बीस के दशक में प्रकाशित होने वाली पत्रिका मौज—मजा में कुछ पूठों पर नियमित रूप से सामग्री प्रकाशित होती थी इसके अलावा चित्रपट

(गुजरती) और 'मोशन पिक्चर्स', फ़िल्म इंडिया (सं. बाबूराव पटेल), 'सिने वॉयस' और 'साउंड' आदि पत्रिकाएं अस्तित्व में आई।''8 वहीं अनुपम ओझा अपनी किताब सिने सिद्धांत में इसका जिक्र मुक्तरसर पैमाने पर करते हुए कहते हैं "1950 के पहले निकलने वाली एस.के .वासन द्वारा फोटो प्ले तथा 'सिने-समाचार' (त्रैमसिक) भी महत्तवपूर्ण हैं। सिनेमा समाचार में मराठी गुजराती तथा अंग्रेजी तीनों भाषाओं में सामग्री छपती थी। कलकत्ता के कई छोटे बढ़े शहर सिनेमा पर लगातार सामग्री प्रकाशित करते थे। 1913 में 'केसरी' नामक पत्र में फाल्के का एक साक्षात्कार प्रकाशित हुआ है। 1918 में 'फाल्के' ने 'नवयुग' में सिनेमा पर चार गंभीर लेख लिखे हैं। किंतु फाल्के के निबंध के बाद सन 1950 तक घंभीर लेखन का सूत्र तक ढूंढ पाना असंभव है।'' वहीं हिंदी में फिल्म पत्रिकारिता पर किताब लिखने वाले विनोद तिवारी (जिन्होंने कुछ वर्ष माधुरी का कार्य भार संभाला) का कहना है- "रंग भूमि को पहली फ़िल्म पत्रिका इसलिए भी मान लिया गया है कि वह सफलता से प्रकाशित होती रही। अन्य जिन दो पत्रिकाओं का जिक्र किया है वह इतनी अल्प जीवी हैं कि पाठकों एके बीच कोई पैठा नहीं बना सकीं और रंगभूमि 1932 से 1936 तक निकलती रही और इसके सामने कोई प्रतिद्वंदिता पैदा नहीं हुई।''9 लेकिन इस पूरे परिदृक्ष्य को इतिहासकार रविकांत मुख्तालिफ़ निगाह से देखते हैं और सिनेमा की पहली पत्रिका के सवाल को हल करने की कोशिश करते हैं। उनके विवरणों में हमने ऐसी कई बाते जानने को मिलती हैं जो चौंका देती हैं वे अपने किस्सागोई के अंदाज़ में कहते हैं -

"पिछली सदी के बीच की दहाईयों में दिल्ली स्थित देहलवी ख़ानदान का लोकप्रिय किताबों, पत्र—पत्रिकाओं और दवाओं का लंबा-चौड़ा कारोबार था सन 1939 से युसुफ, युनूस इदरीस देहलवी उर्दू का महान शुमार 'शमा' निकलते थे, जो अदब और सिनेमा के बीच कहीं अवस्थित थी। सन 1959 से इसका हिंदी संस्करण, सुषमा, भी आने लगा, सामग्री के थोड़े बहुत हेर फेर के साथ: संपादकीय वही, ज़्यादातर माल वही दो वही। इसमें इस्मत चुगताई, राजेंद्र बेदी, और शैलेश मिट्यानी की कहानियां छपती थीं; क्रतील शिफ़ाई, शकील बदायूँनी और प्रेम वाटरबर्नी की गज़लें और राजा मेंहदी आली खान कि फ़िल्मी पैरोडियां भी। अमृता प्रीतम के इमरोज इसके लिए रेखांकन किया करते थे। इनका इनामी अदबी मुअम्मा इतना मशहूर होता था कि हजारों लोग सिर्फ़ मुअम्मा हल करने के लिए शमां ख़रीदते थे, जो स्वतंत्र तौर पर भी बिकता था हमारे संदर्भ में चंद बातें दुहराने लायक हैं -शमा का यहीं संस्कारण लाहौर से छपता और पाकिस्तान में भी वितरित होता था, वैसे ही जैसे रेडियो सीलॉन और आल इंडिया रेडियो का उर्दू सर्विस पाकिस्तान में खूब पसंद किया जाता था शमा वालों ने फ़िल्म फिटरन और निर्माण का काम भी किया। और सबसे ज्यादा हैरत में डालने वाली बात- शमा—सुषमा ने 60 के दशक में अपने पाठकों के लिए टेलीफोन पर फ़िल्म समीक्षाएं भी पेश कीं यानि बक्रायादा एक फ़िल्म कॉल सेंटर चलाया! राष्ट्र और भाषा के पार जाती ये कहानियां फ़िल्म पत्रकारिता के पाने इतिहास की ही तरह दिलचस्प हैं। फ़िल्म पत्रकार गुजराती के मौजमजा को पहली सिने पत्रिका मानते आए हैं, बंगाली में भी कुछ-कुछ पत्रिकाएं तीसरे दशक में आ गई थीं" लाजिम सवाल है कि हिंदी की पहली फ़िल्म पत्रकारिता कौन सी थी? मजेदार जबाब है कि फ़िल्म से मुताल्लिक पहला स्तम्भ रामरख सिंह सहगल द्वारा संपादित और इलाहबाद से मुद्रित राष्ट्रीय, साहित्य और नारीवादी हिंदी—उर्दू पत्रिका चाँद में दिखाई देता है वहीं पहली बार हमें अन्यान्य सार्वजनिक क्षेत्रों में नाम कमाती दुनिया और भारत की प्राति शील

नारियों के बीच सिनेमा की नायिकाओं के दर्शन होते हैं। बतौर प्रोद्योगिकी सिनेमा के बारे में ज़रूरी मालूमात मिलते हैं"।10 इस तरह हम उस तवील इतिहास की तरफ़ गुजरता हुया-सा महसूस करते हैं, जिसे फ़िल्म की पत्रिकारिता का इतिहास कहा जा सकता है। रिवकांत हिंदी और उर्दू के जानिब से हमें जिस ओर ले जाने की कोशिश कर रहे थे उसमें हम उन्हीं राष्ट्रवादी इकाइयों के तहत सांस्कृतिक उत्पादों के चिरत्र की व्याख्या ही है। इतिहास के अंतर्गत जैसे-जैसे हम विषय को छूते जाते हैं हमें कई सारे सिरे हथेली पर उलझे हुए दिखते हैं। हम पाते हैं कि 'चाँद' और 'शमा' का ज़िक्र रिवकांत कर रहे हैं उनके लहजे और विनोद तिवारी के लहजे में एक फ़र्क दिखता हैं।

III

आइए अब बात उसी मोड़ पर खत्म करते हैं जहां से शुरू हुई थी। हमने कहा था कि किसी भी कला को दो तरह से देखा जाना चाहिए एक तो उसके अपने रचाव का समय जिसमें वो पैदा हो रही है और दूसरा हमारे साथ उसके बनते संबंधों का समय जो हमारी स्मृतियों को पैदा करता है। सिनेमा को इस तरह सोचने पर हमें जो फांक मिलती है वो है दर्शक और आलोचकों के नजिरये में। वार्नर हरजौग भी इसी तरफ़ इशारा करते हैं जब वे कहते हैं कि सिनेमा पढ़े लिखे नहीं अनपढ़ लोगों की कला है तो हमें हिंदुस्तानी सिनेमा के लिए खूबसूरत तर्क मिलता है। शुरुआत में हमने कहा था कि सिनेमा मनोरंजन के लिए ही पैदा हुआ है तो भारतीय और पश्चिमी सिनेमा में सिद्धांतः ज्यादा अंतर नहीं होना चाहिए लेकिन वहीं तत्याना इसे मजेदार दार झूठ की तरह पेश करती है। तो आईए हम भी इस झूठ को उस मशहूर हिंदी फ़िल्म दृश्य से जोड़ दें तो ये बात बिलकुल उलट साबित हो जाएगी जो फ़िल्म आनंद का एक मशहूर प्रसंग है, जिसमें केंसर पीड़ित राजेश खन्ना की मौत के बाद शोकाकुल अमिताभ बच्चन राजेश खन्ना की आवाज़ वाला टेप चलाता है ''ज़िंदगी और मौत तो ऊपर वाले के हाथ में है जहांपनाह! हम तो रंगमंच की कठपुतिलयां है....'' जैसे वह रिकोर्डेड आवाज़ की अमरता में मृत्यु की अकाट्यता को झुठला रहा हो! कभी टेप को देखता है कभी उस देह को जिससे यह आवाज़ कभी नहीं निकलेगी। भारतीय चिंतन का यह मूल स्वर है वह अमरतत्व की खोज में जीवन का वितान रचती है और किसी न किसी रूप में अपने बीज़ स्मृतियों की कोख़ में बोने की कोशिश करती हैं।

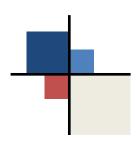
बात दरअसल यही है कि फ़िल्म को सर्वाधिक लोकतांत्रिक विधा मानने वाले विष्णुखरे हिंदुस्तानी फ़िल्म सैराट की समीक्षा करते हैं तो उसी योरोपियन टूल का सहारा लेते हैं जो भारतीय सिनेमा को कूड़ा सिनेमा मानता है। विनोद भारद्वाज सिनेमा के सौ साल होने पर जिस विश्लेषण को रेखांकित करते हैं उसमें अभी भी संग्रहणीय कार्य नहीं हुए हैं। इससे इतर वहीं आम हिंदुस्तानी सिने दर्शक साहित्य और आलोचना की व्याख्या से दूर हाथ में रेडियो पकड़े गुनगुनाता हुआ दूर निकल जाता है और हम सोचते ही रह जाते हैं कि वे कौन लोग होगे जिनके लिए जय संतोषी माँ और सूर्यवंशम आज भी हफ़्ते में एक बार दिखाई जाती है। उसी तरह जैसे झुमरी तलैईया पर किसी को विविध भारती सुनाई जाती थी! ख़ैर जब हम एक रेखीय विमर्शों के आदि हो जाते हैं तो बहुरंगी चीज़ें हाथ से छूटती जाती हैं। आइए एक शेर से बात ख़त्म करें —

नासेहा तुझ को ख़बर क्या कि मुहब्बत क्या है रोज़ आ जाता है समझाता है यूं है यूं है

-अहमद फराज़

पादटिप्पणियां

- 1. तत्यना षुर्लेई, फ़िल्मीजादू, फ़िल्मी धोखा, फ़िल्मी वास्तविकता, पृ.142
- 2. यांत्रिक पुनरुत्पादन के युग में कलात्मक रचना/ वॉल्ट बेंजामिन का बेहद चर्चित।
- 3. Italo Calvino, the literature machine- cinema & the novel problems of narrative,pg.74-79, इतलों कालविनो सिनेमा के संदर्भ में कहते है की सिनेमा का जन्म ओरल ट्रडीशन से हुआ है, जैसे उपन्यासों का। इसलिए हमें इसे नृजातीय परिप्रेक्ष में देखने की जरूरत है।
- 4. यूरोप में कुछ लोगों के लिए सिनेमा का आधार पुराने जमाने के दर्शन से संबंधित है, जो प्लेटो की गुफा की तरह है। प्लटो ने जीवन और दुनिया की वास्तिवकता के बारे में लिख कर एक ऐसी स्थिति का वर्णन किया, जहां कुछ लोग गुफा में बैठे हैं। वे प्रवेश-द्वार से विमुख होकर बाहर नहीं, दीवार को देखते हैं। उन लोगों के पीछे कुछ हो रहा है, वास्तिवक दुनिया है, वास्तिवक चीजें और वास्तिवक जीवन भी। लेकिन लोग जो देख पाते हैं, वह केवल इस यथार्थ की छाया है, जो दीवार पर दिखाई जाती है। यथार्थ लोगों के पीछे है। और, जिसे वे देख सकते हैं वह यथार्थ से मिलता-जुलता होकर भी उससे अलग ही है। सिनेमा घर कुछ लोगों के लिए ऐसी ही गुफा है। भारतीय फ़िल्मों की स्थिति यूरोप से अलग है, क्योंकि इसका दार्शिनिक आधार भी कुछ और है। भारतीय सिनेमा का दार्शिनिक आधार जो कि प्लेटो की गुफा से मिलता-जुलता भी है और अलग भी है। हम कह सकते हैं कि अगर यह सब कुछ जो आसपास है सिर्फ माया है। यह तो सिर्फ रूपक है लेकिन इसका एक छोटा दार्शिनिक आधार तो हो ही सकता है। भारत का सिनेमा जब सपनों का कारखाना बन गया, तब इसे सिनेमा माना गया, ये अपने दर्शकों के लिए एक मजेदार झूठ है। -तत्यना षुर्लेई
- 5. वही,
- 6. हिंदी सिनेमा का इतिहास, *मनमोहन चड्डा*, पृ.17
- 7. मनमोहन चड्डा की किताब और देवश्री के लेख से इसकी पुष्ट होती है।
- 8. फिरोज़ रगून वाला, फ़िल्म पत्रकारिता विवाद ही विवाद', पटकथा, फ़िल्म वार्षिकी 1993, पृ. 187
- 9. वहीं, पृ. 35।
- 10. मीडिया की भाषा लीला, रविकांत, पृ. Xxiv(भूमिका)



डबिंग: विज्ञान एवं कला



यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि एक भाषा में व्यक्त विचारों को दूसरी भाषा में व्यक्त करना अनुवाद है। यदि भाषा का जन्म व्यक्तियों में परस्पर विचार विनिमय या समुदायों में विचार विनिमय की दृष्टि से हुआ होगा तो अनुवाद का जन्म अवश्य ही दो भाषाभाषी समाजों, व्यक्तियों या समुदायों में विचार विनिमय की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही हुआ होगा।

विश्व में अनेकानेक भाषाओं के बीच की खाई को पाटने के लिए अनुवाद को एक सेतु माना गया है।

विश्व बहुविध भाषाओं का अजायब घर है – 3000 से भी अधिक प्रमुख भाषाएं अपना वर्चस्व कायम किए हैं।

'अनुवाद' समाज का अभिन्न अंग है।

भारत में शिक्षा की मौलिक परंपरा थी – गुरु की कही हुई बात को शिष्य दुहराते थे, इस दुहराने को भी 'अनुवचन' या 'अनुवाद' कहते थे। 1

एक समय "जुरासिक पार्क" फ़िल्म एक भाषा में बनकर पूरी दुनिया की महत्वपूर्ण भाषाओं में डब होकर केवल फ़िल्म में भाषा की पट्टी परिवर्तित करके लोगों ने अपनी-अपनी भाषाओं में क्या देखी कि डबिंग का कमाऊ जादुई मंत्र फ़िल्म उद्योग से जुड़े निर्माताओं को ऐसा पसंद आया कि बच्चों की फ़िल्में, सीरियल, चैनलों आदि के कार्यक्रम डबिंग के माध्यम से फिल्मांकन करने पर एक भी पैसा खर्च किए बिना अत्यंत अल्प समय में लोगों के समक्ष आकर चर्चित होने लगे और फ़िल्मी जगत में डबिंग का अस्त्र कारगर सिद्ध होने लगा। इस अस्त्र को कारगर बनाने में सबसे बड़ा हाथ सिने जगत से जुड़े हुए अनुवादकों एवं फ़िल्म निर्माण से जुड़े हुए रंगकर्मियों का है।²

आज दुनियाभर की भाषाओं में उत्कृष्ट फ़िल्में बन रही हैं तथा इन फ़िल्मों के निर्माण पर समय एवं धन इतना अधिक खर्च होता है कि एक ही फ़िल्म को अलग-अलग भाषाओं में बनाना फिर भी संभव नहीं होता। ऐसे में बीच का रास्ता निकालना सहज स्वाभाविक ही है।

मूलतः मानवीय मनोभावों का शाब्दिक रूप अनुवाद के नाम से जाना जाता है। उसी अनुवाद के दृश्य-श्रव्य रूप को सिनेमा कहा जाता है। मनोभावों की प्रस्तुति की तरंगें और शाब्दिक रूप की अनुभूति करने का साधन है, वह है सिनेमा। विज्ञान और तकनीकी विकास के साथ सिनेमा में आमूल परिवर्तन आते गए, शुरुआती समय में जब दृश्य को शाब्दिक माध्यम से अनुदित नहीं किया गया था तब अपनी वैचारिक क्षमता और सामाजिक एवं शैक्षिक स्तर के अनुरूप व्यक्ति अनुभूति

डबिंग के लिए अनुवाद कार्य के लिए अनुवादक को केवल कागज. कलम और शब्दकोश के बल पर ही काम करना नहीं होता है। उसे स्ट्रियो या फ़िल्म चलाने, आगे पीछे करने, आदि की सुविधा से युक्त जगह पर बैठकर फ़िल्म के एक-एक शॉट को गहराई से भाषा, संवाद एवं भाषा की अर्थगत-सामाजिक-सांस्कृतिक एवं अर्थछविपरक स्थिति को समझना होता है।

जयंतीलाल नटवरलाल राठोड़ पीएच. डी. शोधार्थी महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र), भारत मोबाइल : +919130524352, +919898182508 ई-मेल :

ayantilalrathod7@gmail

करता था, लेकिन अपने चर्मचक्षु के साथ अंतरचक्षु की दिव्य दृष्टि से मनोभावों की अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर आनंद की अनुभूति अलग-अलग रूप में प्राप्त कर सकता था। इसी कारण, चार्ली चैपिलन की शुरूआत की मूक सिनेमा को समझने में दुनियाभर के किसी भी दर्शक को कोई परेशानी नहीं हुई, कारण था, ब्रह्मांड की सार्वित्रक भाषा का प्रचलन था उन फ़िल्मों में, वह थी 'मौन' की मूक भाषा, जिसकी अनुभूति, शाब्दिक न रहते हुए, आंगिक और मनोभावों के दर्शन की अनुभूति से भरपूर थी। दुनियाभर में सार्वित्रक प्रश्न है तो वह है भाषा के प्रचलन का, स्वीकार का, आधिपत्य का और सर्वोच्च रूप से पूरी दुनिया में स्वीकृत होने का। इन समस्याओं का समाधान है, डिबंग [दृश्य-श्रव्य], फ़िल्म और अनुवाद।

"डिबंग", शूटिंग के समय बोले गए संवादों को साउंड प्रूफ स्टूडियो में हेड फोन पर शूटिंग के समय बोली गई आवाज़ को सुनने के साथ आँखों के सामने परदे पर मूक दृश्य को देखने के साथ ही उन संवादों को वही मनोभावों के साथ उसी तरह से बोलते हैं, जैसे शूटिंग करते समय बोले थे। शूटिंग के समय आसपास की आवाज़ भी रिकॉर्ड हो जाती है, जिसके कारण संवादों को (दशकों से) इस तरह से ही डब किया जाता है।

'डबिंग' एक पारिभाषिक शब्द है, जो अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होता है। 'डबिंग' अनुवाद का दृश्य-श्रव्य रूप है। डबिंग का प्रयोग मह्दांश एक भाषा की फ़िल्मों को दूसरी भाषा में अनूदित करने के लिए होता है।

डिबंग एक मूल रचना को नई मूल रचना में रूपांतरण करने की एक कला है। हर परियोजना अद्वितीय है और यह मूल रचना को न्याय करने का काम है। छोटी से छोटी बातों का एक नई भाषा में अनुवाद करना और स्थानीयकरण करना एक मुश्किल कार्य है।

डिबंग कभी-कभी स्वचालित संवाद प्रतिस्थापन (ADR – automated dialogue replacement – स्वचालित संवाद प्रतिस्थापन) के साथ भ्रमित होता है और अशुद्ध रूप से 'अतिरिक्त संवाद रिकॉर्डिंग' के रूप में जाना जाता है, जिसमें मूल अभिनेता संवादों को पुनः रिकॉर्ड करते हैं और ध्विन खंडों का सामंजस्य करते हैं। फ़िल्म उद्योग के बाहर, 'डिबंग' शब्द सामान्य रूप से परदे पर दिखाए गए अभिनेता/अभिनेत्री की आवाज की प्रतिस्थापन हेतु दूसरी भाषा बोलने वाले विभिन्न स्वरदाता कलाकारों के लिए संदर्भित है।

डबिंग एक कला और विज्ञान है। हर जरूरत एक नए आविष्कार की जननी है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' का साकार मूर्तिमंत स्वरूप 'डबिंग' है।

पाइनवुड स्टूडियो पोस्ट प्रोडक्शन विभाग के प्रमुख, ग्रेहाम वी हार्टस्टोन के अनुसार, "डिबंग हमेशा प्रक्रिया के अंत में होता है। निर्माता पुनः लेखन और पुनः शूटिंग में चाहे कितना ही समय और धन का खर्च करेंगे, लेकिन डिबंग की बात आते ही प्रथम प्रयास में ही पूर्ण और सही होने (डिबंग) की अपेक्षा रखते हैं।

"Dubbing always occurs at the tail end of the process. They will spend as much time and money as they've got rewriting and reshooting, but when it comes to dubbing they expect the mix to happen right the first time."

Graham V Hartstone, Head of Post-Production at Pinewood1³

"डबिंग दुनियाभर में टी.वी. और फ़िल्म सामग्री के अनुकूलन की रचनात्मक प्रक्रिया है। अनूदित कथानक और ध्विन पथ दोनों को परदे पर संवाद करने वाले के ओष्ठ आंदोलन के साथ संभवतः मिलान करने की क्रिया है। (रिकॉर्ड किए गए संवाद अथवा गीत के बोल के उच्चारण के अनुसार ओष्ठ मिलाने की क्रिया – लिप सिंक डबिंग)

"Dubbing is the creative process used for adapting TV and film content around the world. The translated script and the audio track are both created to sync with the lip movements of the on-screen speaker as much as possible. (lip-sync dubbing)⁴

लुकेन, हर्बस्ट, लैंगम –ब्राउन, रीड और स्पिंहोफ, के अनुसार, "डबिंग का उद्देश्य अनुदित संवाद का लक्ष्य भाषा में अभिनेताओं द्वारा इसका उच्चारण ध्विन पथ के माध्यम से मूल भाषण के प्रतिस्थापन के द्वारा संभवतया यथासंभव समय अनुसार संवाद करना, मुहावरों के प्रयोग के अनुसार, मूल संवाद के समय हुए ओष्ठ आंदोलनों का पालन करने का प्रयास है।"(1991 पृ.31)

"The aim of dubbing is to make the translated dialogue appear as though it is being uttered by the actors in the target language by means of "the replacement of the original speech by a voice track which attempts to follow as closely as possible the timing, phrasing and lip-movements of the original dialogue."

-Luyken, Herbst, Langham-Brown, Reid & Spinhof, 1991, p.31⁵

फ़िल्मों में डिबंग की सामान्य प्रक्रिया को फ़िल्म की शूटिंग के समय कलाकारों द्वारा बोले गए संवादों के साथ अन्य अनेक ध्वन्यंकित ध्विनयों के रिकॉर्ड हो जाने के हटाने के लिए किया जाता है। डिबंग थियेटर में कलाकार अपनी फ़िल्म के शॉट्स को देखता जाता है और ओठों के उतार-चढ़ाव को परदे पर देखकर संवाद को पुनः माइक्रोफोन से बोलता है। इस पुनः बोले गए संवाद को पहले रिकॉर्ड हुई व्यवधान युक्त आवाज़ के स्थान पर रिकॉर्ड कर लिया जाता है। सामान्यतः फ़िल्म उद्योग में व्यापक अर्थ में इसे डिबंग कहा जाता है।

'डबिंग' और 'भाषा' एक दूसरे से कभी न बिछड़ने वाले अभिन्न अंग है। मानव समाज और जीवन के साथ जुड़ी हुई संवेदनाओं के वाहक है ये दो शब्द; जिससे जुड़े हैं विभिन्न समाज, संस्कृति, रीति-रिवाज, खानपान, पहनावा, भाषा, कला, इतिहास और कई ऐसे पहलू, जिनके बारे में जानने के लिए बेताब है देश-विदेश के लोग, जो मानव सभ्यता को जानना चाहते हैं।

'डबिंग' और 'भाषा' के बारे में अधिक जानने से पहले यह जानना जरुरी है कि जब भाषाई समस्या हो तो उसे कैसे निपटा जा सकता है? एक व्यक्ति जो दो भाषाएं जानता हो वही इस समस्या का निपटारा कर सकता है। दो भाषाओं को जानने वाला अनुवादक के नाम से पहचाना जाता है, उसका कार्य अनुवाद के नाम से जाना जाता है।

डबिंग एक ऐसी कला है जिसके सिवा विश्व की दृश्य-श्रव्य सूचना के प्रसारण को सही रूप से समझ पाना असंभव है, इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता। आज दुनिया भर की भाषाओं में फ़िल्में बन रही है तथा इन फ़िल्मों के निर्माण पर समय एवं धन इतना अधिक खर्च होता है कि एक ही फ़िल्म को अलग-अलग भाषाओं में बनाना फिर भी संभव नहीं होता। ऐसे में बीच का रास्ता 'डबिंग' निकालना सहज स्वाभाविक ही है।

डबिंग का ओष्ठ संचालनगत पक्ष से हर प्रदेश की अपनी विशिष्टता और विविधता जुड़ी होती है, जिससे प्रादेशिक संस्कृति, भाषा, बोली, खानपान, रहन-सहन, पहनावा अलग से होते हैं। सामान्यतः प्रदेश की प्राकृतिक स्थिति के अनुरूप विविधता पाई जाती है – जैसे कि अतिशय ठंड या अतिशय गर्मी, प्रदेश के निवासी के ओष्ठ संचालन में प्राकृतिक रूप से ओष्ठ खुलने और बंद होने में विविधता रहती है, जिससे बोलते वक्षत उच्चारण में भिन्नता रहती है। भाषा और प्राकृतिक स्थिति के अनुरूप ओष्ठ संचालन की स्थिति बदलती रहती है।

साहित्य में शब्द कथ्य को प्रस्तुत करते हैं, लेकिन चलचित्रों में चित्रों एवं शब्दों के मणिकांचन संयोग से कथ्य की अभिव्यक्ति होती है। आंगिक भाषा के माध्यम से काफी कुछ व्यक्त कर दिया जाता है तथा बची-खुची कसर संवादों के माध्यम से पूरी की जाती है। अतः चलचित्र में मात्र संवाद ही नहीं होते, बल्कि व्यक्त करने के लिए आंगिक भाषा भी एक जरिया होती है।

मीडिया में अनुवाद के माध्यम से जहां तक डिबंग का प्रश्न है तो यह डिबंग एक भाषा यानि स्रोत भाषा (Source Language) की जगह लक्ष्य भाषा (Target Language) में अनुवाद करके संवाद बोलकर ध्वन्यांकन कर मूल भाषा (SL) के संवादों के स्थान पर लक्ष्य भाषा (TL) के संवादों को रिकॉर्डिंग करके लक्ष्य भाषा (TL) के दर्शकों के लिए उस भाषा के चित्र मूलरूप में रखने के साथ भाषा में परिवर्तन करके लक्ष्य भाषा (TL) की फ़िल्म बनाना डिबंग है। डिबंग के इस स्वरूप में अनुवाद के माध्यम से भाषा परिवर्तित हो जाती है। मूलतः स्रोत भाषा (SL) में निर्मित फ़िल्म के संवादों, गीतों आदि को डिबंग के बाद दूसरी भाषा में ढाल दिया जाता है। इस तरह से, डिबंग के इस स्वरूप में अनुवाद की भूमिका महत्वपूर्ण है। स्रोत भाषा (SL) के स्थान पर लक्ष्य भाषा (TL) में उसके अनुवाद को संवादों, गीतों आदि के रूप में रिकॉर्ड करके मूल फ़िल्म में स्रोत भाषा (SL) के स्थान पर भरा जाता है। इस तरह से, अनुवाद के माध्यम से की गई डिबंग भी एक कला है।

प्रत्येक फ़िल्म का करीब 3-4 सैकंड का प्रत्येक शॉट भी किसी कथ्य की अभिव्यक्ति ही तो होता है, क्योंकि इसके माध्यम से अभिलाषित अर्थ की अभिव्यक्ति ही तो की जाती है तथा दर्शक इन शॉटों के माध्यम से अभिलाषित अर्थ को ग्रहण कर लेते हैं। डिबंग में अनुवादक इन स्थितियों को समझकर भाषा की भूमिका को समझता ही है तथा रंगमंच के अपने अनुभव के आधार पर वह ऐसी स्थिति से पार पाता है तथा कहां चित्र ने स्थिति व्यक्त कर दी और कहां भाषा की जरूरत है, वह इससे बखूबी परिचित होता है। ओष्ठ संचालन के अनुसार तथा शब्दों की लंबाई तथा वाक्यों की लंबाई के अनुसार उसे संवाद तराशने होते हैं; वह भी पूरी तरह से नापतौल करके प्रयुक्त ध्विन, शब्द, विराम, वाक्य आदि के अनुरूप अन्यथा उसके द्वारा डिबंग हेतु प्रस्तुत अनुवाद को रिकॉर्ड करके भी यदि ओष्ठ संचालन न होने पर भी संवाद सुनाई पड़े तो उसकी हेठी तो होगी ही। डिबंग हेतु अनुवाद कार्य दुधारी तलवार की भाँति है। इस कार्य को अंजाम देने के लिए प्रत्युपन्नमित, रंगमंच के गहन ज्ञान तथा भाषा के उच्चरित एवं समाज में प्रयुक्त प्रचलित रूप की जानकारी जरूरी होती है।

डबिंग के लिए अनुवाद कार्य के लिए अनुवादक को केवल कागज, कलम और शब्दकोश के बल पर ही काम करना नहीं

होता है। उसे स्टुडियो या फ़िल्म चलाने, आगे पीछे करने, आदि की सुविधा से युक्त जगह पर बैठकर फ़िल्म के एक-एक शॉट को गहराई से भाषा, संवाद एवं भाषा की अर्थगत-सामाजिक-सांस्कृतिक एवं अर्थछविपरक स्थिति को समझना होता है तथा फ़िल्म को क्रमशः रोक-रोक कर आगे चलाकर उसके संवादों के शब्दों के आकार, आंगिक भाषा, उपवाक्यों, वाक्यों, आदि का चुनाव करना होता है तथा उसे स्वयं अपने उच्चारण यंत्र का उपयोग करके संबंधित ध्वनियों, शब्दों, वाक्यों, आदि का उच्चारण करके परखना होता है कि उसके द्वारा डिबंग हेतु अनुवाद में प्रयुक्त ध्वनि, शब्द, उपवाक्य या वाक्य ओष्ठ संचालन की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है या नहीं। यदि उसके सामने बड़ा शीशा लगा हो तो वह कार्य करते-करते ओष्ठों की स्थिति तथा ओष्ठ संचालन की स्थिति को स्वयं परखकर संबंधित संवादों को अनुदित रूप में ढ़ालकर तथा उनकी डिबंग हेतु उपयोगिता की परख करके आगे बढ़ सकता है।

आज की इस तकनीकी दुनिया में डिबंग ही एक ऐसा जिरया है, जो पूरे विश्व को एक धागे में पिरोता है, बांधता है और छोटे होते जा रहे विश्व गाँव को एकसूत्र करने में सक्षम है, उसकी महत्ता से हम किनारा नहीं कर सकते, यह समय की आवाज़ और जरुरत है।

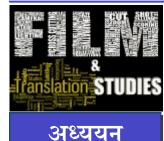
टिप्पणियां

- 1. सिंह, रामगोपाल. (2009). अनुवाद विज्ञान : स्वरूप और समस्याएं. गाजियाबाद : साहित्य संस्थान.
- 2. सिंह, रामगोपाल. (2011). अनुवाद के विविध आयाम. रोहतक : शांति प्रकाशन,
- 3. ч.267.
- 4. A Brief History of Film Dubbing Part 1 http://msteer.co.uk/analyt/filmdubbing1.html
- 5. Same.
- 6. Luyken, Herbst, Langham Brown, Reid & Spinhof, 1991, p.31.
- 7. सिंह, रामगोपाल. (2011). अनुवाद के विविध आयाम. रोहतक : शांति प्रकाशन, पृ.267.
- 8. वही. पृ.267.
- 9. वही. पृ.268.
- 10. वही. पृ.269.

संदर्भ ग्रंथ

- सिंह, रामगोपाल. (2009). अनुवाद विज्ञान : स्वरूप और समस्याएं. गाजियाबाद : साहित्य संस्थान.
- सिंह, रामगोपाल. (2013). अनुवाद के सिद्धांत. गाजियाबाद : साहित्य संस्थान.
- सिंह, रामगोपाल. (2011). अनुवाद के विविध आयाम. रोहतक : शांति प्रकाशन.
- A Brief History of Film Dubbing Part I Maxwell Steer 3/4 5/16/2015.
- Lip sync-Wikipedia, the free encyclopedia 4/9 22/11/2014 <u>file://H:\Lip</u> sync thefree encyclopedia.html

दिलत-आदिवासियों का दमन-उत्पीड़न और हिंदी सिनेमा



हिंदी सिनेमा अपने आरंभिक काल से लेकर आज तक विश्वसिनेमा में अपनी पहचान बना चुका है, परंतु दुर्भाग्य की बात है कि साहित्य की तरह ही हिंदी सिनेमा ने भी समाज के पिछड़े दलित वर्ग आदिवासी वर्ग को फ़िल्मों में स्थान नहीं

आलोक कुमार शुक्ल शोध छात्र

हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा

ईमेलalok15888@gmail.com फ़ोन-9960376375 भारतीय समाज जिसकी जड़ों में वर्ण व्यवस्था एवं जातिवादिता शामिल है, जिसका स्वरूप सदैव दमनात्मक रहा। तथाकथित उच्च जातियों ने ब्राह्मणवाद का सहारा लेकर अपने से निम्न कही जाने वाली जातियों को शोषित एवं उत्पीड़ित होने के लिए सदैव ही विवश किया। अपनी सुविधा और रौब के लिए कुछ लोगों को जबरदस्ती गुलाम बनाया, उनको अपने इशारों पर नचाया, उनका शोषण, उत्पीड़न करते रहे, समय के साथ यह प्रक्रिया और भी गहरी होती चली गई उन्होंने धर्म और पूंजी को अपने हक में करके, निम्न दिलत-आदिवासियों को हमेशा से उनके वाजिब हक से महरूम रखा। उनके द्वारा हकों की मांग करने पर प्रताड़ित किया गया।

सिनेमा मनोरंजन के साथ ही साथ सामाजिक बदलाव लाने का सशक्त माध्यम भी है, क्योंकि यह दर्शकों के मन, मस्तिष्क पर जादुई प्रभाव डालता है। अत: जब समाज में व्याप्त सड़ी-गली मानसिकता के प्रति लोगों को जागरूक करना हो, यह विधा असरदार साबित हो सकती है। हिंदी सिनेमा अपने आरंभिक काल से लेकर आज तक विश्वसिनेमा में अपनी पहचान बना चुका है, परंतु दुर्भाग्य की बात है कि साहित्य की तरह ही हिंदी सिनेमा ने भी समाज के पिछड़े दलित वर्ग आदिवासी वर्ग को फ़िल्मों में स्थान नहीं दिया। यदि कहीं दिया भी तो मनोरंजन या उनकी दयनीय स्थिति या पिछड़ेपन के प्रतीक के रूप में या आरंभ में भीलों, बंजारों को केवल हास्य उत्पन्न करने या फ़िल्म के कथानक को आगे बढ़ाने में किसी लुटेरे आदि के रूप में आदिवासियों को हिंदी सिनेमा में दिखाया गया।

मुख्य धारा के हिंदी सिनेमा में दिलत-आदिवासियों को कितना स्थान दिया जाता रहा है? आदिवासी जीवन को दिया जाने वाला स्थान नगण्य है और जो स्थान दिया जा रहा है उसमें रोमांटिक नजिरया अधिक नज़र आता है यथा साठ-सत्तर के दशकों की बहुत सी फ़िल्मों में आइटम सोंग्स के रूप में आदिवासियों को प्रदर्शित किए जाने की एक प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

फिर भी कमोबेश रूप में ही सही भारतीय सिनेमा ने दलितों, आदिवासियों की समस्याओं को बड़ी गंभीरता से फ़िल्मों के माध्यम से उठाया। श्याम बेनेगल, गोविंद निहलानी, केतन मेहता, कल्पना लाज़मी, सत्यजित रे, तपन सिन्हा, गौतम घोष, विमल

राय, साई परांजपे, अरुणा राजे, प्रकाश झा जैसे काबिल निर्देशकों ने हिंदी सिनेमा में दलित-आदिवासी के उत्पीड़न एवं उनके प्रतिरोध को गहरे से उभारा है।

'मृगया' (1976) मृणाल सेन निर्देशित यह फ़िल्म बीसवीं सदी के तीसरे दशक में उड़ीसा के जंगलों में रहने वाले एक आदिवासी शिकारी घिनवा (मिथुन चक्रवर्ती) की बहदुरी की कथा कहती है। उपनिवेश कालीन शोषण के विरुद्ध और प्रकांतर से आपातकाल के विरोध में खड़ी यह बहुचर्चित फ़िल्म, दिलतों के बाद आदिवासी जीवन और उनके कथावृत्तों का चित्रपट पर उभरने के प्रारंभिक सफल प्रयासों में से एक है।

श्याम बेनेगल की अंकुर, निशांत, समर, जैसी फ़िल्में प्रतिरोध का मुखर स्वर उभारती हैं। वहीं पर गोविंद निहलानी की आक्रोश, हजार चौरासी की माँ, तमस जैसी फ़िल्मों में दिलत-आदिवासी स्वर के अलग-अलग स्वरूप एवं समाज की बड़ी जातियों, पूँजीपितयों के कुचक्र, शोषण, राजनीतिक उत्पीड़न, दमन को परदे पर सशक्त ढंग से दिखाया गया है। प्रकाश झा ने अपनी पहली फ़िल्म 'दामुल' में दिलत स्त्री के तीव्र प्रतिरोधी स्वर को बखूबी उभरा है जहां पर वह अपने परिवार, अपने समाज पर हो रहे शोषण का प्रतीकार जमींदार का कत्ल करके करती है। सत्यजीत रे ने प्रेमचंद्र की कहानी 'सद्गित' पर आधारित अपनी फ़िल्म 'सद्गित' में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के दायरे में ब्राह्मण द्वारा दिलत के शोषण, बेगारी खटाने तथा दिलत के दारुण मृत्यु तक का गहरा स्वरूप दिखाया है। दिलत ब्राह्मणवाद की गांठ नहीं तोड़ पाता बल्कि इस तोड़ने की प्रक्रिया में उसकी मृत्यु हो जाती है। वह लकड़ी की गाँठ असल में ब्राह्मणवाद की ही गांठ थी। विमल राय की सुजाता, बंदिनी में स्त्री, दिलत की समस्याएं उभारी गई हैं।

तथाकथित उच्चजाित वालों ने अपने शक्ति के बल पर दिलत-आदिवािसयों को सिदयों से गुलाम बनाकर उनसे मेनहत, मजदूरी कराया, उनका सब प्रकार से शोषण किया, उन्हें जल, जंगल और जमीन से बेदखल किया, यहाँ तक की उनकी बहू-बेटियों की बार-बार अस्मत लूटी जिसकी झलक हिंदी सिनेमा के कई फ़िल्मों में दिखाई देती है। गोविंद निहलानी निर्देशित व विजय तेंदुलकर कृत फ़िल्म 'आक्रोश' (1980) में समाज का नग्न यथार्थ दिखाया गया है कि किस तरह से भीखू लह्न्या (ओमपुरी) नामक आदिवासी को अपनी ही पत्नी नागी लह्न्या (स्मिता पाटिल) के कत्ल में फसाया गया है, जबिक स्थानीय नेता, पूंजीपित और पुलिस तीनों ने मिलकर उसकी पत्नी से बलात्कार करने के बाद उसकी जधन्य हत्या की है। वह अपने बचाव में एक भी शब्द मुंह से नहीं बोलता, क्योंकि निरक्षर होने के बावजूद भी वह मूर्ख नहीं है, वह जानता है कि इस व्यवस्था में उसे न्याय नहीं मिल सकेगा। इस फ़िल्म की ट्रेजडी यह है कि भीखू लह्न्या खुद अपने हांथों से अपनी बहन की हत्या कर देता है, ताकि उसकी असहाय बहन भी उसकी पत्नी की तरह ही समाज के बेईमानों की दरिंदगी का शिकार न हो। दिलत-आदिवासी जीवन के नग्न यथार्थ को रूपायित करने वाली इस फ़िल्म में नक्सलवाद की भी स्पष्ट अनुगूंज है। दिलत-आदिवासी हथियार तब उठाता है जब उसके लिए न्याय के सारे दरवाजे बंद हो जाते हैं। वह अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है। 'लाल सलाम' 'रेड अलर्ट' 'चक्रव्यूह' जैसी फ़िल्मों में इस बात को बखूबी दिखाया गया है कि किस तरह से पुलिस, राजनेता, पूंजीपित मिलकर उनके जल, जंगल, ज़मीन को छीनने में लगे हुए हैं। विकास के नाम पर उन्हें छला जा रहा है, उनकी बहू-बेटियों का दैहिक शोषण किया जा रहा है जिसका प्रतिरोध

दलित-आदिवासी जान देकर करता है।

हिंदी सिनेमा के साठ, सत्तर, अस्सी के दशक की फ़िल्मों में हाशिये के समाज का सच सशक्त ढंग से सामने आया और तथाकथित उच्च जातियों की विकृत मानसिकता का स्वरूप भी परदे के माध्यम से दिखाया गया है। इससे पता चलता है की समाज में शोषण, दमन, अत्याचार, दुराचार, गैरबराबरी की जड़ें कितनी गहरे तक गई हैं। सिनेमा के माध्यम से हाशिये के समाज के सच को जितना सशक्त ढंग से अभिव्यक्त किया जा सकता है उतना किसी अन्य कला माध्यमों से नहीं।

अंत में कहा जा सकता है कि धीरे-धीरे ही सही हिंदी सिनेमा अब दलितों आदिवासियों के दुःख-दर्द, पीड़ा, लोक-संस्कृति तथा लोकाचारों को जिस ढंग से प्रदर्शित कर रहा है उससे लगता है कि वह दिन दूर नही जब हाशिये का यह समाज मुख्य धारा से जुड़ाव महसूस करेगा। फिर भी हिंदी सिनेमा को दलितों-आदिवासियों की समस्यायों को संपूर्णता में प्रदर्शित करना होगा और उसे उन प्रश्नों पर भी खुलकर बोलना होगा जिस पर वह अभी तक मौन है। यह तभी संभव हो पाएगा जब तक खुद दलित-आदिवासी इस क्षेत्र में सिक्रय भूमिका नही निभाएंगे जैसे स्वयं दलित -आदिवासियों ने साहित्य, राजनीत और सामाजिक आंदोलनों के क्षेत्र में आकर अपनी आवाज बुलंद की, वैसे ही सिनेमा के क्षेत्र में भी उन्हें स्वयं आकर हस्तक्षेप करना पड़ेगा, तभी सिनेमा की वास्तविक तस्वीर बदल सकती है।

संदर्भ सूची:-

- मीणा, हरिराम.(2013). आदिवासी दुनिया. नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट.
- ब्रह्मात्मज, अजय.(2006). सिनेमा की सोच. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
- राही मासूम रज़ा(2006). सिनेमा और संस्कृति. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
- आज कल. (सं.)फरहत परवीन, नई दिल्ली : जून 2015.
- समसामियक सृजन. (सं.)महेंद्र प्रजापित, नई दिल्ली : अक्टूबर-मार्च 2012-13 (संयुक्तांक)

REEMA LAGOO



Reema Lagoo (21 June 1958 – 18 May 2017) was an Indian theatre and screen actress known for her work in Hindi and Marathi cinema. She began her acting career in the Marathi theatre.

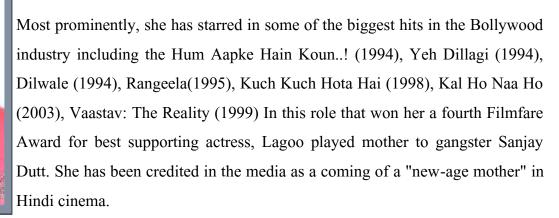
व्यक्तित्व

Career:

Lagoo started her career on Marathi stage. However, she received wider recognition with roles in television serials, Hindi and Marathi films. She debuted in films in 1979 with the Marathi film Sinhasan.

Hindi films

She went on to play supporting roles with some of the biggest names in the Hindi film industry, mostly as the mother of the lead characters. She first rose to prominence with the Hindi film Qayamat Se Qayamat Tak (1988) where she played Juhi Chawla's mother. She was seen in a controversial role in Aruna Raje's Rihaee (1988). She then starred in the blockbuster film Maine Pyar Kiya (1989) as Salman Khan's mother and then in Saajan (1991), also a superhit success at the box office. She starred in action drama and crime thriller Gumrah (1993) as Sridevi's mother, Jai Kishen (1994) as Akshay Kumar's mother and Rangeela (1995) as Urmila Matondkar's mother. Her Gumrah (1993) was seventh-highest grosser of the year at the box office, Jai Kishen (1994) was a commercial success (declared 'semihit'). Rangeela (1995) was highest grosser of the year at the box office.



Though mostly playing a middle-aged mother in films, she has also played other

roles earlier in her career. She played the role of a dancer in Aakrosh (1980) and a cold-hearted businesswoman in Yeh Dillagi (1994).

Marathi films:

Lagoo also had a notable presence in Marathi cinema. She was awarded the Maharashtra State Film Award for Best Actress for her performance in the 2002 film Reshamgaath. Her role in in Janma (2011), which she referred to as "one of the best roles in her career", received praise. Recognising her contribution to Marathi cinema, she was awarded the V Shantaram Award by the Government of Maharashtra.

Television:

Lagoo also had a fairly successful career as a television actor in both Hindi and Marathi languages. She debuted on television in 1985 with the Hindi series Khandaan. Her roles in Shriman Shrimati as Kokila Kulkarni and as Devaki Verma starring opposite Supriya Pilgaonkar in Tu Tu Main Main won praise, with the latter winning her the Indian Telly Award for Best Actress in a Comic Role. She also starred as Dayawanti Mehta in the soap opera Naamkarann

Lagoo has appeared on the Marathi show Maanacha Muzra, which honours Marathi personalities.

Personal life:

Reema Lagoo was born on 21 June 1958 as Nayan Bhadbhade. Her mother was Marathi stage actress Mandakini Bhadbhade famed for the drama Lekure udand Jaahalee.Lagoo's acting abilities were noted when she was a student at the Huzurpaga HHCP High School in Pune. She took to acting professionally after completing her secondary education. Starting 1979, she was employed with the Union Bank of India for ten years in Mumbai, when, alongside appearances in television and films, she participated in the inter-bank cultural events.

She met Vivek Lagoo, her future colleague in the bank and stage actor, in 1976 before marrying in 1978. Upon marriage, she adopted the name Reema Lagoo. Described by Vivek as "an understanding to restructure our lives", they divorced later. The couple's daughter Mrunmayee is also an actress and theatre director.

Death

Lagoo had been shooting for the television series Naamkarann till 7 p.m. (IST) on 17 May 2017. After she complained of chest pain later that night, she was taken to Kokilaben Dhirubhai Ambani Hospital in Mumbai at 1 a.m. (IST). She died at 3:15 a.m. (IST) from cardiac arrest. At the time of death, she was described as being "perfectly fine" and having "no health issues". Her funeral was performed by her daughter at 2:45 p.m. (IST) in Oshiwara crematorium, in the city's Jogeshwari suburb.

खादी: जिसमें धड़कती है भारत की आत्मा



समीक्षा

Mo. 9823696685

मूल्य:

60 रुपये

पुस्तक खादी: एक विचार लेखक पंकज कुमार सिंह प्रकाशन काशी योग एवं मूल्य शिक्षा संस्था, वाराणसी Email:

भारत के आजादी से लेकर आज तक जिस तरह भारतीय लोकतंत्र में भ्रष्टाचार तथा गंदी रजीनीति का बोलबाला हुआ वैसे ही विचार भी बदलते और गंदे होते गए। स्वतंत्रता आंदोलन में देश की धड़कन बन चुकी खादी तस्कर और डकैतों के छुपने की खोल बनने लगी। इसीलिए स्वतंत्रता के दौर में सोहन लाल दिवेदी ने जिस खादी के लिए लिखा था कि—'खादी अहिंसक हथियार, न इसको वस्र कहो/खादी स्वदेश एवं स्ववेश की, गंगा जमुना जलधारा/खादी करुणा और प्रेम का, नूतन संगम थल प्यारा/ खादी गांवों तक सुविधा ले जाने वाली श्रमधारा।' उसी खादी के लिए आज अदम गोंडवी को लिखना पड़ा —"काजू भुने हैं प्लेट में, व्हिस्की गिलास में, उतरा है रामराज विधायक निवास में/ पक्के समाजवादी हैं, तस्कर हों या डकैत/ इतना असर है खादी के

डॉ. सुनील यादव

<u>संपर्क-</u>

<u>sunilrza@gmail.com</u>

Mo. 7654912295

'खादी: एक विचार' पंकज कुमार सिंह की एक महत्वपूर्ण किताब है। इस पुस्तक का महत्व खादी के ऐतिहासिक महत्व के रेखांकन में हैं। वस्त्र के साथ एक विचार भी आता है, यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है। महात्मा गांधी ने हरिजन में लिखा था कि 'खादी मानवीय मुल्यों का प्रतिनिधित्व करती है, मिल का वस्त्र अधिक धात्विक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है।' 'खादी :एक विचार' के अध्ययन के क्रम में गढ़ी का वाक्य एक सूत्र वाक्य की तरह है जिसका विकास पंकज कुमार सिंह अपने इस किताब में करते हैं। खादी एक विचार के रूप में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के सौर में लोगों के अंतर्मन में छा गया था। एक तरह से देश के लिए धड़कने वाले दिलों में खादी एक देशप्रेम का ड्रेस कोड था। इसी कारण जवाहरलाल नेहरू ने उस दौर में खादी को 'हिंदुस्तान की आजादी की पोशाक' कहा था। खादी को, वस्त्र को विचार में बदलने का यह नया अध्याय नहीं था; इससे पहले भी वस्त्र और विचार की बात की जा चुकी थी। गांधी की दृष्टि में 'खादी का मतलब देश के सभी लोगों की आर्थिक स्वतंत्रता और समानता का आरंभ' था। इस तरह खादी वस्त्र विचार के रूप भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में खुलकर सामने आया। इसीलिए कहते हैं कि खादी वस्त्र नहीं विचार है एक ऐसा विचार जो स्वदेशी आंदोलन के दौर में भारतीय जनमानस को एक हथियार के रूप में प्राप्त हुआ, जिस दौर में विदेशी कपड़ों की होली जलाकर साम्राज्यवाद को उखाड़ फेकने का संकल्प लिया जा रहा था, उस दौर में खादी भारतीयता की प्रतीक बन चुकी थी। स्वदेशी वस्त्र का एक ही अर्थ था- खादी।

उजले लिबास में।" तो स्वतंत्रता आंदोलन से लेकर यहां तक खादी का यह वैचारिक स्वरूप किस रूप में बदला यह खासा महत्वपूर्ण सवाल है। खादी जो स्वदेशी की एक पहचान थी इस पहचान का दुरुपयोग करते हुए भ्रष्टाचारी लोग खादी को एक ढाल के रूप में प्रयोग करने लगे हैं। खादी के विचारों का ये कत्लेआम का दौर है। स्वदेशी की ब्रांडिंग करके बड़े-बड़े पूंजीपित अपना व्यवसाय चला रहे हैं। पंकज कुमार सिंह का काम इन्हीं अर्थों में खासा महत्व रखता है। वे अपने इस किताब में वैदिक काल से लाकर आज तक के खादी और उससे जुड़े विचारों के बदलाव का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं। यह पुस्तक 'वैदिक कालीन खादी, खादी विचार, खादी का ऐतिहासिक और वैचारिक संदर्भ, गांधी मार्ग में हस्तशिल्प की महत्ता, खादी में तकनीकी विकास की गांधीवादी अवधारणा, खादी: कल और आज जैसे महत्वपूर्ण अध्यायों में विभक्त है। अंत में लेखक ने खादी से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकों की महत्वपूर्ण सूची प्रस्तुत की है जिसके माध्यम से हम खादी पर अभी तक हो चुकी बहसों, विमर्शों एवं अवधारणाओं को ठीक से समझ सकते हैं।

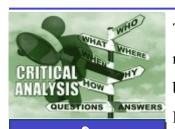
पंकज कुमार सिंह लिखते हैं कि 'आज खादी को गांधी जी के नाम से जाना जाता है। लेकिन वैदिक काल से खादी भारतीय सभ्यता की जड़ों में समाहित थी। कपास की खेती सूत की कटाई और बुनाई, ये सभी चीजें विश्व सभ्यता को भारत की देन हैं। दुनिया में सबसे पहले इसी देश में सूत काता और कपड़ा बुना गया। सूत कातना और बुनना यहां उतना ही प्राचीन उद्योग है जितनी यहां की सभ्यता। वैदिक काल में माताएं अपने पुत्रों के लिए वस्त्र तैयार करतीं थीं।' तो इस तरह से हम देखते हैं कि खादी वस्त्र और विचार कोई नया आविष्कार नहीं है, बल्कि वैदिक युग से यह चला आ रहा है। खादी के संदर्भ में यह जानना जरूरी है कि 'हाथकते सूत से हथकरघे पर बुना गया वस्त्र खादी कहलाता है। यूं तो प्राचीन काल में सर्वत्र हाथ से ही वस्त्र तैयार होता था, किंतु औद्योगिक क्रांति ने हाथ को विस्थापित कर यंत्र को प्रतिष्ठित किया।' लेखक के इस बात से आप खादी के बुनावट और बनने की प्रक्रिया को समझ सकते हैं। यहां एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इससे इस बात का अनुमान बिलकुल नहीं लगाना चाहिए कि खादी कि अवधारणा आधुनिक तकनीकी कि विरोधी अवधारणा है या गांधी तकनीकी के विरोधी थे। खादी के बनने की प्रक्रिया का यह स्वदेशीकरण है, जहां गांधी खादी को हर उस चीज से जोड़ देना चाहते थे जो मशीन के आधार पर भारतीय जनता को गुलामीिक तरफ झोंक रही थी। स्वदेशी और हथकरघा का विचार इसी के चलते गांधी का केंद्रीय विचार बना।

खादी के लिए आज के दौर में अच्छे हालात नहीं है सर्व सेवा संघ के पूर्व अध्यक्ष डा. सुगन बरंठ लिखते हैं कि "खादी वस्र और विचार की वर्तमान बुरी स्थित के लिए सरकार और हम खादी संस्था वाले बराबर के जिम्मेदार हैं। सरकार ने जो किया उस पर हम गत पाँच वर्षों में खादी मिशन की सभाओं, गांधी स्मृति और दर्शन समिति के मंच से व खादी आयोग के सामने बहुत बोल चुके हैं। अब हमसे भविष्य के कार्यक्रम तय करने की अपेक्षा है। दूसरी भाषा में कहें, तो अब हमें अ-सरकारी खादी को असरकारी खादी बनाने की दिशा में मनन, चिंतन व सारी शक्ति लगानी होगी। अब हमें अपनी लकीर बड़ी करनी है और जो भी साथ आए उसे अपने साथ जोड़ना है। हमारी आत्मिक शक्ति सकारात्मक है। खादी विचार और वस्त्र को सर्वोदय दर्शन का अविभाज्य अंग मानकर इसका संरक्षण व संवर्द्धन हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है।" डा. सुगन बरंठ की ये चिंताएं पंकज कुमार सिंह के खादी संबंधी चिंतन के केंद्र में अवस्थित है इसी कारण यह कह सकते हैं कि 'खादी: कल और आज' इस पुस्तक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अध्याय है। इस अध्याय के आरंभ में ही पंकज कुमार सिंह लिखते हैं कि 'स्वाधिनता आंदोलन में स्वदेशी-स्वायत्त-स्वावलंबी अर्थव्यवस्था का

एक सशक्त प्रतीक खादी क्षेत्र विगत वर्षों में एक अजीब दुष्चक्र का शिकार हो गया है। देखते ही देखते संस्थाओं कि संख्या 6000 से घटकर 2000 से भी कम रह गई। बची हुई संस्थाओं कि आर्थिक स्थिति दयनीय बनती जा रही है। आज जो आर्थिक स्थिति खादी की है वही स्थिति 19 वीं शताब्दी में औद्योगिकरण के करण भारत के वस्त्र उद्योग की थी। जबिक 18 वीं शताब्दी तक भारत वस्त्र काला में विश्वविख्यात था।' लेखक की यह बातें खादी के संकट को बहुत बारीकी से उकेरती है। खादी कल और आज के हिसाब से यह सच है कि न सिर्फ खादी कि बल्कि खादी से जुड़े विचारों के भी खात्मे का दौर चलने लगा है। इस अध्याय के निष्कर्ष के रूप में काही गई लेखक की यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'खादी आज भी प्रासंगिक है बशर्ते इसमें सोलर और तकनीकी का अधिकाधिक प्रयोग किया जाए। गांधी जी का खादी के प्रति दो आग्रह थे- एक विकेंद्रित व्यवस्था और दूसरा हस्तकेंद्रित व्यवस्था। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विकेंद्रीय व्यवस्था ही टिकेगी और उसी कि जरूरत भी है। किंतु पूर्णरूपेण से हस्तकेंद्रित व्यवस्था नहीं टिक पाएगी। अतः जरूरत है इस बात की है कि खादी निर्माण के छोटे-छोटे किंतु तकनीकी रूप से उन्नत औज़ार बनाए जाएं, जो मानव हाथ को सशक्त और सफल बनाए।' लेखक यह निष्कर्ष आज के दौर कि नजरों से देखें तो बहुत ही महत्व का है, क्योंकि खादी अब सिर्फ हस्तकेंद्रित व्यवस्था पर टिक कर जिंदा नहीं रह सकती।



Movie Review - MOM



The role of a mother has always been quintessential in real life and it is reflected to be so in the movies too. There have been many films which have been made that portray strong character of the mother, the all time classic being MOTHER INDIA. This week's release titled MOM starring Sridevi also shows the power of a mother. Will MOM be able to prove itself to be the 'mother' of all the films in Bollywood or will it bite the dust, let's analyze.



It's always said that 'Since God cannot be everywhere, He created Mother'. MOM is a heart wrenching story, which mirrors the power of a mother in lieu of the aforementioned adage. The film starts off with school teacher Devki (Sridevi) punishing one of her students in school named Mohit for sending a lewd message to her daughter Arya (Sajal Ali), who also studies in the same class. Despite Sridevi's love and affection towards Arya, Arya can't get over the fact that she is her step-mom. There's a constant brewing tension between them. One night, when Arya goes for a Valentine's day party with her friends at



declaring the 'powerful' Mohit and his partners as innocent and they walk away scot-free. Seeing justice slipping out of her hands, Devki approaches a small

time detective Dayashankar Kapoor aka DK (Nawazuddin Siddiqui) to help her.

a far off cottage, Mohit and his accomplices seize the opportunity to get even

with her and land up brutally raping her and dumping her in a gutter. What

happens after that are a series of court sessions, which ultimately end up



Just as Devki starts 'punishing' the culprits, she comes under the radar of the razor sharp police officer Mathew Francis (Akshaye Khanna). What is the

reason for Arya to hate Devki so much, does Devki succeed in her plan of exposing the culprits or does she get caught by Inspector Mathew Francis while

doing so, what happens of the culprits ultimately and does Arya finally get

justice, is what forms the rest of the story.

TF MUMBAI

No sooner MOM's trailer got released, it immediately caught everyone's attention with Sridevi's daunting question "Agar aapko galat aur bohot galat mein se chun na ho, toh aap kya chunenge?" Thanks to Sridevi's screen

persona, the film's trailer set the path for the film. The film is a hard-hitting tale narrated by debutante director Ravi Udyawar. What makes MOM different from other films in similar genre is the treatment and presentation. Since the film touches upon a very topical issue, it is definitely bound to find high resonance amongst the audiences. Even though the film has an extremely gripping screenplay (Girish Kohli), it could have been tighter and far more engaging, especially in the second half.

Despite the presence of moments of sheer brilliance in the film, the writer fails to sustain the same till the end. The film's story (Ravi Udyawar, Girish Kohli, Kona Venkat) is about today's reality and has been written in a convincing manner.

After having carved a niche for himself as an artist, illustrator, graphic designer and an ad filmmaker, Ravi Udyawar makes an astounding debut as a director with MOM. Ravi truly wins the hearts of everyone with the emotional connect that he brings in the film. The film's first half is shot very well building an excellent set up and well-detailed and etched out characterisation. The first half also mirrors the reason for the brewing tension between Sridevi and her daughter. The film however begins to dip and stretches in the second half, especially during the pre-climax. By the time the film reaches the climax, the so far built up fizz starts fading away. Had the film been shorter in length, it would've been far more effective. Amongst all the highpoints of the film, do not miss the film's climax and the scene in the film is when Sridevi breaks down when she sees her daughter in the hospital. This scene will definitely give you goose bumps.

Speaking of Sridevi, with MOM, she touches the 300th film mark of her career. Sridevi is the lifeline of MOM, as the film rests on her strong shoulders. The magic, the aura and the magnetic charisma, for which Sridevi was always known is in full display in MOM. The way Sridevi operates and takes out one accused after another with the help of Nawazuddin Siddiqui is interestingly shown. With MOM, Sridevi, yet again, proves that she still is one of the best leading actresses in Bollywood. On the other hand, there's Nawazuddin Siddiqui, who can rightly be called as a 'performance chameleon'. The effortlessness with which he slips into his character in MOM is truly outstanding. MOM sees an elevation of his career graph with his exceptional performance. His looks and performance in the film is simply beyond words. Seeing him and Sridevi on the big screen together is nothing short of sheer bliss. Then, there's the suave Akshaye Khanna, who is in top form in MOM. It's great to see him in a strong role after a long time. Besides them, there are some really good performances from Adnan Siddiqui and Sajal Ali. MOM, as a whole, comes across as a blazing powerhouse of some great performances, which also includes the actors playing the four culprits.

The film's music (A. R. Rahman) is decent, though the song towards the end was unnecessary. On the other hand, the film's background score (A. R. Rahman, Qutub E Kripa) is very good and creates good

tension in the narrative. It's the background score, which elevates the films' narrative by notches.

The film has exceptional cinematography (Anay Goswamy), whereas the film's editing (Monisha R. Baldawa) is just about decent. The film could have been trimmed for stronger impact. The action scenes in the film have also been executed very well.

On the whole, MOM is a powerful film that reflects the horrors of the society that we live in today and how the world still remains unsafe for women. The film shocks and impacts you deep within. Watch it for it's hard hitting content and Sridevi's brilliant performance.



वैकल्पिक विकास पर राममनोहर लोहिया के विचार



शोध

राममनोहर लोहिया अपने राजनितिक और सामाजिक आंदोलनों एवं विकास के लिए किये गए प्रयासों के माध्यम से समाज को कैसे संपूर्ण विकास से जोड़ा जाये पर जीवन पर्यन्त काम करते रहे और इसे अंजाम तक पहुँचाने के लिए अनेकों कार्यक्रमों का भी सुझाव प्रस्तुत

भारती देवी पीएच. डी. शोधार्थी सा

वैकल्पिक विकास की जब भी बात शुरु होती है तो कई प्रमुख राजनीतिक एवं सामजिक विचारकों का नाम सामने सामने आता है जिनमें महात्मा गांधी प्रमुख स्थान रखते हैं। इनके साथ-साथ लोहिया और दूसरे विचारक एवं उनके द्वारा दिए गए वैकल्पिक विकास को आगे बढ़ाने का काम करते हैं। राममनोहर लोहिया अपने राजनितिक और सामाजिक आंदोलनों एवं विकास के लिए किये गए प्रयासों के माध्यम से समाज को कैसे संपूर्ण विकास से जोड़ा जाये पर जीवन पर्यन्त काम करते रहे और इसे अंजाम तक पहुँचाने के लिए अनेकों कार्यक्रमों का भी सुझाव प्रस्तुत किया। विकास के अपने विकल्प को पूरा करने के लिए उन्होंने छोटी मशीनों के प्रयोग पर अधिक बल दिया।

प्रस्तावना

राममनोहर लोहिया पूंजीवाद एवं साम्यवाद दोनों की विफलताओं को समझ चुके थे उनका कहना था कि भारत के लिए तो ये विकास के रास्ते चाहे पूंजीवादी हो या साम्यवादी बिलकुल ही अप्रासंगिक हैं। विकल्प के रूप में उन्हें हमेशा गांधी का रास्ता ही सबसे ठीक लगता था। 1952 में पंचमढ़ी में हुए सम्मलेन में उन्होंने भारत के लिए विकास का वैकल्पिक स्वरूप प्रस्तुत किया था। लोहिया ने पंचमढ़ी भाषा में कहा था कि "भारतीय समाजवाद ने अब तक आर्थिक लक्ष्य साम्यवाद से और गैर आर्थिक एवं सामान्य लक्ष्य पूंजीवाद की उदारवादी धरा से उधार लिए। इसके परिणामस्वरूप एक विकट असंगति उत्पन्न हुई है। विकास के विकल्प में भारत के लिए संपूर्ण विकास का ढांचा गांधी का ही रास्ता हो सकता है यह लोहिया ने बताया था। लोहिया ने गांधी के अहिंसा, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, विकेंद्रीकरण, के सिद्धांतों के आधार पर छोटी मशीनों एवं कम उर्जा से काम करने वाली श्रम आधारित सरल प्रौद्योगिकी के द्वारा विकेंद्रित उत्पादन प्रणाली की व्यवस्था की स्थापना की रूपरेखा प्रस्तुत की।

प्रमुख संदर्भ

लोहिया कहते हैं कि देश को आजाद हुए लगभग 50 साल हो गए पर इसके विकास की प्रक्रिया में हमेशा एक विसंगति देखने को मिली है एक ओर तो भारत में भौतिक वस्तुओं में काफी विकास हो रहा है लेकिन जब हम अन्य दृष्टि से विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि भारत में सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध होती जा रही है। हमारे वर्तमान विकास की प्रक्रिया ने एक नए माध्यम वर्ग और धनाढ्य वर्ग को जन्म दिया जो कि मूल्य हीनता की बीमारी से ग्रसित है। इस तरह से विकास के द्वारा होरही सांस्कृतिक अवनति पर विचार करने वालों में लोहिया का प्रमुख स्थान आता है। वे मानते थे कि हमारे संपूर्ण विकास की अवधारणा तब तक पूरी नहीं की जा सकती है जब तक कि भौतिक विकास के साथ-साथ सांस्कृतिक विकास को न जोड़ा जाए।

लोहिया विकास को बाधा पहुँचाने में जाति को भी बहुत हद तक जिम्मेदार मानते हैं।

वे कहते हैं जाति की कोई निश्चित सीमा नहीं है यह किसी भी स्तर पर आपको नुकसान पहुँचा सकती है। भारतीय समाज में विकास के मार्ग में यह आज तक की सबसे बड़ी बाधा है। यही नहीं जाति व्यवस्था चौतरफा हमला करती है। भारतीय समाज जाति के कबूतरखाने में बंटा है। देश की समस्त प्रगतिशीलता को जाति एक झटके में खतम कर सकती है। जाति प्रथा ने हमारे संस्कार, हमारी आदतें और रोजगार तक को एक खांचे में कैद कर रखा है। केवल गाँव ही नहीं, बल्कि शहर भी जाति के चक्र से बच नहीं पाए हैं। जब भी कोई व्यक्ति कहीं दूसरी जगह जाकर बसता है तो वह सबसे पहले ऐसी जगह जाता है जहाँ उसके जात भाई रहते हैं, इसका सीधा आशय यह है कि वह अपने साथ ऊँच-नीच को भावना गाँव से लेकर शहर जाता है1। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति किसी उच्च काम कि बजाय अपनी जाति के द्वारा किए जा रहे काम को अपना लेता है और विकास कि प्रथा को गलत तरीके से ही चलने देने में ही सहायक हो जाता है।

लोग आज भी पारंपिक पेशे को ही जाित के आधार पर अपनाने को विवश होते हैं। जिनको छोटी जाित के लोग कहा जाता है उनके अधिक क्षमतावान के बाद भी छोटे व्यवसाय को ही अपनाने को मजबूर होना पड़ता है। लोहिया मानते हैं जातीय पेशे तक ही सिमट कर रह जाना भी उनके स्वाभाविक विकास को बाधित करता है। लोहिया उचित नेतृत्व की भी बात करते हैं। वे नेतृत्व के विकास पर भी बल देते हैं साथ ही विशेष अवसर की भी मांग करते हैं। वे कहते हैं कि जाित भेद को मिटाना चािहए। वे जाित के साथ-साथ नारी को भी जोड़ते हैं और कहते हैं कि जब तक दोनों को बराबर का अधिकार नहीं दिया जाएगा तब तक मानव समाज का विकास असंभव है। वे कहते हैं कि जाित में इतनी शक्ति है कि यह साहिसकता और आनंद की समूची क्षमता को ख़त्म कर देती है2।

लोहिया के वैकित्पिक विकास का जो प्रारूप जो उन्होंने सुझाया वह मुख्य रूप से एक समाजवादी समाज के आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र से समबद्ध था। लोहिया जब आर्थिक स्तर पर समाजवादी समाज के बारे बात करते हैं तो कहते हैं समाजवादी अर्थव्यवस्था का मतलब सम्मानपूर्ण जीवन है न कि समृद्धता है। उनका मानना था कि हमें हमेशा प्रयास बहुत धनी होने का नहीं, बिल्क एक सामान्य जीवन का होना चाहिए जो कि सम्मान जनक भी हो ऐसी सोच और जीवन विकास को गितमान रखेगा और साथ ही आंतरिक समानता को बढ़ावा देगा जिसके आधार पर ही संपूर्ण विकास की कल्पना को साकार किया जा सकता है। यहाँ लोहिया गांधी जी के विचारों से प्रभावित दिखाई देते हैं। लोहिया वैकित्पक विकास की अवधारणा की व्याख्या करते हुए यह भी कहते हैं कि हमें केवल उत्पादन के संबंध में आमूल परिवर्तन कि आवश्यकता नहीं है, बिल्क उत्पादन की शिक्त में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। उपभोग में समानता का स्तर वैश्विक होने कि जरुरत है तभी श्रम पूँजी के अनुपात को एक सम्मानजनक स्थित में लाया जा सकेगा।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि लोहिया समाज के अलग-अलग पक्षों पर अपनी गहरी नजर रखते थे। यह बात भी स्पष्ट तौर पर देखी गई है कि वे उत्पादन के प्रकार से बहुत भलीभांति परिचित थे, वे जानते थे कि उत्पादन के प्रकार पर ही समाज के विकास की गित निर्भर करेगी। वे कहते हैं कि जब हम मार्क्सवाद और समाजवाद में भेद करते हैं तो इसका आशय केवल पूँजीवादी उत्पादन और उत्पादन के मध्य संबंध को तोड़ना है। समाजवादी अर्थव्यवस्था के लिए एक समाजवादी को केवल पूँजीवादी उत्पादन के साथ संबंध और उत्पादन की शक्तिओं कैसे भी करके तोड़ना है। वे कहते हैं कि कम्युनिस्ट होने का सिर्फ एक ही अर्थ है वह है केवल पूँजीवादी वर्ग को तोड़ना लोहिया ने स्पष्ट किया कि मार्क्सवाद की केवल एक उपलब्धि रही है वह है निजी संपत्ति के सिद्धांत को ख़त्म करना।

छोटी मशीनों की वैकल्पिक विकास को पूर्ण कर पाने में भूमिका

छोटी मशीन का विचार भारत में एक खास जरुरत है, ऐसा इसलिए है कि आम और पिछड़े लोगों की जरूरत बन गई है छोटी मशीनें। यूरोपीय देशो में जनसंख्या और पूँजी का जो रिश्ता है वह हमारे यहाँ ठीक उल्टा है। हमारे यहाँ पर जनसंख्या अधिक है और पूँजी कम पर उनके यहाँ इसके विपरीत हालत है। ऐसी हालत में हमें ही कुछ सोचना होगा3। यह बात तो स्पष्ट है कि व्यक्ति को बड़ी मशीनों का स्वामी या उद्योगपित नहीं बनाया जा सकता है लेकिन एक समतामूलक समाज का भागीदार अवश्य ही बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में ऐसी मशीनों का अविष्कार जो कि कम लागत से बने कि लोग इन्हें आसानी से लगा सके। यह विचार बिलकुल ही तर्कसंगत है।

बड़ी मशीनें आम आदमी की समझ और काबू दोनों के बाहर हैं। आम आदमी यह जानता है कि बड़ी मशीनों पर नियंत्रण एक प्रकार से सर्वोच्च सत्ता को दर्शता है। समझ में न आने वाली ये बड़ी मशीनें जनता के लिए कल्याणकारी शासन के विचार का उल्लंघन करती है। इसके ठीक विपरीत देखा जाए तो छोटी मशीनें और अधिक काबू में रखी जा सकती है4। बड़ी मशीनें अधिक उत्पादन के साथ अधिक विनाशकारी भी बन सकती हैं। इस एवज में छोटी मशीनें अधिक अर्थपूर्ण दिखती हैं, क्योंकि इनके द्वारा किया गया उत्पादन आवश्यकता से अधिक नहीं होता है इस कारण एक समतापरक समाज कि स्थित बनी रहती है।

बड़ी मशीनों के संदर्भ में देखें तो यह पता चलता है कि इनके द्वारा उत्पादन कि प्रक्रिया इतनी तेज होती है कि समाज में पूँजी और उत्पादन के आधार पर असमानता पैदा होने लगती है और ये आगे चलकर भयावह रूप ले लेती है और मानवीयता तथा मानवता के लिए हानिकारक होने लगती है। इससे कुछ मुट्ठी भर लोगों को तो जरुर फायदा होता है पर आमजन को केवल नुकसान उठाना पड़ता है। लोहिया इस बात से इनकार नहीं करते हैं की बड़ी मशीनें अधिक संपन्नता भी लाती हैं पर साथ ही कई विषम स्थितियों को भी जन्म देती है जिनसे निपटना भारी पड़ सकता है। पिछड़े राष्ट्रों में पूँजी की कमी ने छोटी मशीन के विचार को जन्म दिया5। छोटी मशीन के विचार के पीछे उसे समझने और चलाने में आसानी, उत्पादन क्षमता और पूँजी के कमी के तत्व थे। यह बात हमेशा से ही देखने को मिली कि बड़ी मशीनों के द्वारा प्राप्त समृद्धि और शक्ति ने समस्याओं को कुछ हद तक कम किया है पर इन्हें पूरी तरह से ख़त्म करने में सफल नहीं हो पाई हैं। छोटी मशीनों के उपयोग से निश्चित रूप से उत्पादन के साधनों में निजी स्वामित्व ख़त्म होने पर समता आनी ही है6।

लोहिया ने गरीबी को दूर करने के कुल तीन उपाय बताए- 1) जनसंख्या नियंत्रण 2) उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व 3) कम खर्च वाली लेकिन अधिक क्षमता वाली छोटी मशीनें जो कि अधिकतर लोगों तक पहुँच सके और आम जन को रोजगार दे सकें का प्रसार7। इस प्रकार से यहाँ पर यह बात साफ़ तौर पर देखी जा सकती है कि लोहिया वैकल्पिक विकास को विशिष्ट विकास के स्तर पर लाना चाहते थे और छोटी मशीनों को रोजगार का साधन तय करना चाहते थे। उनका यह भी विचार स्वाभाविक रूप से उभर कर सामने आता है कि बड़ी मशीनें पूंजीवादी व्यवस्था और पूँजीवाद को बढ़ावा देगी और इनके लिए बड़ी मशीनों को केवल कुछ लोग ही खरीद सकेंगे, इसलिए उन्होंने ऐसी मशीनों कि बात की जो कि सबकी पहुँच में हों और कोई भी पूंजीवादी व्यवस्था न पनप सके। लोहिया समाज में व्याप्त असामनता पर अपनी टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि यदि हम पूरे विश्व के विकास के इतिहास को देखें तो वह असमानताओं पर टिका हुआ इतिहास है जिसमें कि एक ओर लोकभाषा, लोकभूषा, लोकसंस्कृति और लोकभावना है और दूसरी तरफ सामंती भाषा, सामंतीभूषा और सामंती भावना है8।इस तरह से कहे तो लोहिया समाज में उपस्थित असमानता का गहन चित्रण पेश करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि यह असमानता केवल अर्थ भेद पर ही नहीं, बल्कि भारतीय परिवेश जाति भेद, वर्ण भेद और रंग भेद पर आधारित है। वे कहते हैं कि यह बात सही है कि देश की अलग-अलग जगहों में लोग अलग-अलग बनावट और रंग के होते हैं पर क्या उनका अंत:करण एक सा नहीं होताहै9।

लोहिया छोटी मशीनों कि वकालत इस लिए भी करते हैं कि जिससे समाज में गैरबराबरी का दोनों ही स्तर पर व्यवहारिक और सैद्धांतिक स्तर पर खंडन करते हैं वे इसके जिरये जो विकास कि दौड़ से पीछे हैं उन्हें भी शामिल करना चाहते थे। यह बात साफ़ तौर पर कही जा सकती है कि वे क्यों शिव संस्कृति के उपासक थे। वे औघड़ जीवन, सज्जा से दूर, निम्न लोगों के साथ मेलजोल आदि शिव दर्शन को अपने जीवन में ढाल लिया था। इस तरह से वे एक ऐसा समाज लाना चाहते थे जो कि समता मूलक मूल्यों पर आधारित हो।

तकनीकी के बारे में बात करते हुए लोहिया व्याख्या करते हैं कि उत्पादन और उत्पादन की शक्ति दोनों के मध्य सामंजस्य होना अनिवार्य है नहीं हम श्रमिकों के शोषण को बढ़ावा देने वाली अवधारणा विकसित हो जाएगी। इसके लिए लोहिया तकनीकी में परिवर्तन का सुझाव देते हैं। वे कहते हैं कि यूरोप और अमेरिका में समाजवाद बड़ी मशीनों और पूंजीवादी व्यवस्था से नहीं आया है, बल्कि छोटी इकाइयों में परिवर्तन के जरिये आया है जो कि समान वितरण और सामान विकास के लिए जरुरी है। इसी संदर्भ में वे कहते हैं कि इसका मतलब यह कर्तई नहीं है कि हमें आधुनिक सभ्यता द्वारा बनाई गई तकनीकी को ख़त्म करने की आवश्यकता है, बल्कि ऐसी तकनिकी का विकास करना है जिसके माध्यम से संपूर्ण विकास को पूरा किया जा सके10।

पादटिप्पणियाँ

- 1. एम. एन. श्रीनिवास, *आधुनिक भारत में जाति*, राजकमल प्रकाशन, दूसरी आवृति, नई दिल्ली, 2012, पृ. 101.
- 2. ओंकार शरद (सं) पवित्रता और नर नारी सम्बन्ध; राममनोहर लोहिया, भारत माता धरती माता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 79.
- 3. ओंकार शरद (सं), समता और सम्पन्नता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ- 70.
- 4. ओंकार शरद (सं), राममनोहर लोहिया; लोहिया के विचार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ-71.
- 有制.
- 6. वही. पृष्ठ. 76.
- 7. इंदुमती केलकर, राममनोहर लोहिया, नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया, दिल्ली, 2005, पृ. 88.
- 8. रामकमल राय, *रामामनिहर लोहिया आचरण की भाषा*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण, 2005, पृ. 9.
- 9. इंदुमती केलकर, राममनोहर लोहिया, नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया, दिल्ली, 2005, पृ. 90.
- **10.** Yogendra Yadav, Politics and Ideas of Rammanohar Lohiya. *In Economic and Political Weekly*, Oct., 2, 2010, Vol. XLV, No. 40, p. 99.

संदर्भ ग्रंथ सूची

- श्रीनिवास, एम. एन. आधुनिक भारत में जाति। नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
- शरद ओंकार(सं.)(2007). पवित्रता और नर नारी संबंध; राममनोहर लोहिया, भारत माता धरती माता. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन।
- लोहिया, राम मनोहर(2008). समता और संपन्नता। इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन।
- शरद, ओंकार (सं)(2008). राममनोहर लोहिया; लोहिया के विचार, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन।
- केलकर, इंदुमती(2005). *राममनोहर लोहिया*. दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया।
- राय, रामकमल(2005). *रामामनिहर लोहिया आचरण की भाषा*. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन।



Effects of Emotional Maturity on personality amongSecondary students of District Panchkula



Abstract

शोध

The present study investigated the effect of emotional maturityon personality among secondary class students of DistrictPanchkula (Haryana). This study is conducted on a sample of 100 Students, out of 100 students 50 boys and 50 girls selected randomly from Government and Private secondary schools of Panchkula. The descriptive survey method is used for data collection using Emotional Maturity Scale (M. Bhargava and Y. Singh (1990)and Eysenck'sMoudsley personality Inventory (S.S jalota and S.D kapoor)The findings of the study revealedthat there is significant difference between emotional maturity and personality among boys and girls in schools of District Panchkula.

Dr. SunitaArya

Kalgidhar Institute of Higher Education

Kingra, Malout
(Punjab)

Introduction

Our education aims at all round development of the personality of the child. Education is meant for developing three domains i.e. cognitive, affective and conative. The education mainly stresses to develop cognitive aspect which deals with knowledge and to some extent develop conative aspect which deals with motor skills? The affective aspect which deals with emotions, feelings and sentiments of the child is largely neglected by our Education. For the development of the child emotionally and socially mature, only formal education is not enough but informal education is also needed to child through his family and society. Emotional Maturity is said to be the foundation for leading happy and satisfied life. Undergraduate stage for students seems to be the formative stage. The specific needs for identifying these phenomena of Emotional Maturity as a natural and inevitable essential outcome of student growth and development rather than among pathological symptom. The Emotional maturity becomes important in the behavior of individuals. Also the home environment is considered to play vital role in developing Emotional Maturity.

Singh and Bhargava (1999) stated that "Emotional maturity is not only the effect determinant of personality patterns but it also helps to control the growth of an adolescent's development. A person who is able to keep his emotions under control, which is able to rock delay and to suffer without selfpity, might still be emotionally stunted and childish". Performance in any Endeavour is largely contingent upon mental preparation, psychological strength and emotional maturity. Students are the pillars of the future generations their Emotional maturity is vital one. Emotional maturity is defined as, "A process in which the personality is continually striving for greater sense of emotional health, both intra-psychically and intra-personally". Emotions are aroused by happenings or circumstances that enhance the gratification of a person need or the realization of high goal. Educational process of development occurs in physical, social, cultural and psychological environment. A proper and adequate environment is very much necessary for a fruitful learning of the child. Especially the home and the school should provide the necessary stimulus for learning experience. Home environment is giving appropriate atmosphere which is helpful in child's proper development and forming basic patterns of behavior. A mentally healthy person shows a homogeneous organization of desirable attitudes, healthy values and righteous self- concept and a scientific perception of the world as a whole. Upadhyay, S.K. and Upadhyay, Vikrant. (2003) studied "Emotional Stability and Academic Achievement of Boys and Girls at Secondary Level." and concluded that emotions have both direct and indirect effect on personality. The direct effect came from physical and mental disturbances, while indirect came from reactions of members of the social group around the person who was experiencing the emotion. If the emotions were unpleasant or uncontrolled, they were damaging to the personality pattern. If pleasant and controlled then they had vice versa effect on life. The main findings were: (i) Boys were significantly emotionally stable than girls. (ii) There was no significant difference between boys and girls in academic achievement. (iii) There was no significant relationship between emotional stability and academic achievement of the students. Nelson (2005) in his research related to "Emotional intelligence and emotional inability "says that if we want our children to be emotionally mature, we must focus on their early childhood education which effects certain level of social and emotional maturity.Kaur (2001) conducted a study on a sample of 356 students of XI class. She found that there is positive significant correlation between general intelligence and emotional maturity. It was found that the studentshaving high I.Q level have high emotional maturity and the vice-versa. It was also found that the high I.Q level students have good academic achievement. This high emotional maturity has positive correlation with Intelligence, academic achievement and environmental catalyst. This motivates the Investigator to conduct a study on emotional maturity of students to know the effect of their personality. In future, we may change in curricular and co-curricular activities of students keeping in mind their personality; gender and locality, so that future generation may be more emotional mature to

lead better life.

Objectives of the Study

To study the relation of Emotional Maturity on personality of Secondary Students.

Hypotheses of the Study

There is no significant correlation between Emotional Maturity on personality of secondary class Students.

Delimitations of the study:

The study was confined to the 100 studentsof Xth class studying in Panchkula city only.

Methodology:

The descriptive survey method was used for conducting this study. The research was carried out on 100 (50 boys 50 girls) students of panchkula. Two instruments used In this study Emotional Maturity Scale of Y. Singh and M. Bhargava (1990)andEysenck's Moudsley personality Inventory (S.S jalota and S.D kapoor) The *mean*, S.D., 't'-test have been used for data analysis.

ANALYSIS AND INTERPRETATION OF RESULTS:

H-1 There is no significant correlation between Emotional Maturity on personality of secondary class Students.

Table 1.1

Correlations			
		Personality	Emotional Maturity
Personality	Pearson Correlation	1	.315(**)
	Sig (2-Tailed)	•	.001
	N	100	100
Emotional	Pearson Correlation	.315(**)	1
Maturity	Sig (2-Tailed)	.001	•
	N	100	100
**correlation is s	ignificant at the 0.01 level (2	-tailed)	1

From the above table 1.1 it is clear that there is a significant and positive correlation between the emotional maturity and personality of X class students. So the given hypothesis is rejected.

Education Implications

- 1. The personality can be studied in relation to attitude and aptitude of high school students.
- 2. Emotional maturity and personality can be studied in relation to creativity.

Bibliography

- Cole, L. (1954). Psychology of Adolescence. New York: Rinchart and Company, Inc.
- Crow and Crow (1962). Child Development and Adjustment, New York: MacMillan Company.
- Geoghagen, B., Pollard, M.B. & Kelly, M. (1963).Developmental Psychology.Milwankee U.S.A: The Brue Publishing Company
- .Kaur, M. (2001). A study of emotional maturity of adolescents in relation to Intelligence, academic achievement and environment catalysts, Ph.D. Thesis, Panjab University, Chandigarh.
- Subbarayan, G. Visvanathan. (2011). A Study on Emotional Maturity of College Students. Recent Research in Science and Technology, ISSN: 2076-5061 Vol.3, No.1: 153-155
- Nelson, D (2005) Emotional intelligence and emotional inability .www.iorg.wagne .edu/iorg/training/pdrtpfac.Html/-.
- Singh Y. and Bhargave, M. (1990). Manual for Emotional Maturity Scale (EMS): Agra National Psychological Corporation
- Upadhyay, S.K. and Upadhyay, Vikrant. (2003), A Study of Emotional Stability and Academic Achievement of Boys and Girls at Secondary level. Indian Journal of Educational Research, Vol-23, No-2, July-december-2004 page-41 National Publishing House, New Delhi.
- Walter, D. and Smitson W.S. (1974). The Meaning of Emotional Maturity .M H.Winter . 58: 9-11



लेखनी



CREATION

सृजन

डर

शहर में
ऐलान कर दिया गया है...
दहशत पैदा करो
अफ़वाह फैला दो
सतर्क कर दो
एक-एक को
कि
"लोग उनसे डरें"
शागिदों को भी
गोपनीय हिदायतें दे दो
किसी को
भनक तक न लगे
कि
वह भी किसी से 'डरते हैं'
इसी शहर में

प्रदीप त्रिपाठी

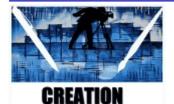


अधूरी सांस

सोचती रही मैं
उम्रभर तुम्हें
सांस की तरह
तुम मिली भी मुझे
मेरी दबी खामोशी में
आँखों के इन्तज़ार में
बिखरे ख्वाबों के घरौंदे में
तुम अब भी मौजूद हो
इक अधूरी आस की तरह

विभा परमार

तुलिका



सृजन







MERLIN

कैमरा



सृजन







SHALINI SINGH

Neelima Azeem: a trained Kathak Dancer and Actress



Neelima Azeem a
trained Kathak
Dancer and Actress
who has got Indira
Gandhi Awards for
her contribution to
Indian dance
format and mother
of famous
Bollywood Actor
Shahid
Kapoor.Here,she
speaks to MD.Iqbal

MD.Iqbal Ahmad
Film PRO
Andheri (W),Mumbai
400053 India
Mob: +91 7738769346
Email: iqmumbai4u@gm

ail.com

Ahmad

tell us about urself..

Ans. I am basically a Kathak Dancer and Actress who has been trained under the guidance of Guru Pandit Birju Maharaj. I have started participating in different forms of dance competion since the age of 10 and also presented India in many countries at the age of 12. I was the younger dancer of the country.

How is your theatre experince?

Ans. Since my school days I used to paerticipate in plays and drama. For this I got many awards also. Theatre makes you strong in the form of acting where no takes are required .I got opportunity to work with NSD Graduates like Habib Tanweer Sahab, Nadira Babbar, Nasruddin



Shah,Pankaj Kapoor and many more where I played the central character,in this manner they worked with me,not me .(laughing.....)

Did u get any good opportunity to work in Bollywood?

Ans. I got many offers from the big banners of the Industry since I was good both in dancing and acting so many filammkers contacted me to work in their films as a lead actrees. Satyajeet Ray, Yash Chopra Sahab wanted to give me a break ,but I refused those offers due to my hard core committeents to dance. Umrao Jaan firstly came to me but I said no since I wanted to be a great dancer of that era.

So after acheving your dance careers, in which films did u work so far

Ans. I did "Phir Wo Taalash" in DD National and this was directed by Tanweer Sahab who gave me Best Actress awards also. My character

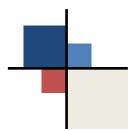
name Sahnaj became famous those days. After this I also worked in "Noore Nazar" with Gogga Kapoor, Karamyodha with Raaj Babbar, Dimple Kapadia. I also worked in Mahesh Bhatt film Sadak opposite Dipak Tijori etc.

Do you feel sorry not to accept nice offers in your earlier stage?

Ans. I would not comment like other people that I don't feel sorry, yes I think sometimes that I could accept those offers. But, in second condition I think that if I would have accepted those films then may be I could not achieve in dance what I have now. Anyway I feel great to say that I am a Kathakkali Dancer.

Do you have any idea to adopt fully Kathak Dance in film?

I have great dream to adopt Kathak Dance in films.Realy it can be shown very beautifully on silver screen.Kathak has natural in its style it has Najakat,Shafakat,Ijjat and over all cultural oreinted.Like other fomat of dance it can be learnt from Pandit Birju Maharaj,who has given its identity in all over the world.This is why now Kathakakli is globally demanded.



ख़लील ज़िब्रान की कविता का हिंदी अनुवाद



जब अलिमत्रा एक बार फिर बोल पड़ी और पूछने लगी, "विवाह के संबंध में क्या कहेंगे मालिक?" और उसने जवाब देते हुए कहा,

आप साथ जन्मे और आगे भी साथ रहेंगे हमेशा।
आप तब भी साथ रहेंगे जब मृत्यु का काला साया आपके जीवन में अंधेरा कर देगा।
हाँ, आप ईश्वर की धुंधली स्मृतियों में भी साथ रहेंगे।
परंतु आपके संगति में तनिक अंतराल भी रहने दीजिए,
और स्वर्गीय पवन को अपने बीच थिरकने दीजिए।

एक दूसरे से प्रेम अवश्य करें, परंतु प्रेम को बंधन बनाने की अपेक्षा इसे आप दो आत्मारूपी किनारों के बीच बहता समुद्र बनने दीजिए। भरिए प्याले एक दूसरे के लिए, पर एक ही प्याले को होटों से मत लगाईए। बाँटिए अपनी रोटी एक दूसरे से पर एक ही रोटी मत खाईए।

गाईए और नाचिए एक साथ और आनंदित रहिए, परंतु एक दूसरे को अकेले भी रहने दीजिए वैसे ही, वीणा के तार अलग-अलग रहकर भी एक ही संगीत उत्पन्न करते हैं जैसे।

अपना हृदय एक दूसरे को अर्पित करे न कि एक दूसरे के हवाले,

हृदय तो जीवन के ही हवाले रह सकता है केवल।

और साथ खड़े रहे एक दूसरे के, न कि अधिक निकट :

क्योंकि देवालय के स्तंभ एक दूसरे से दूर खड़े होते है,

और बलुत और सरु के वृक्ष एक दूसरे के छाया में कभी बढ़ नहीं सकते।

"दी प्रोफेट"

ख़लील जिब्रान की विश्वविख्यात और कालजयी रचना है जिसमे पद्य-काव्य संग्रहित हैं.

पेश है एक पद्य-काव्य का हिंदी अनुवाद ...

> मेघा आचार्य वर्धा, महाराष्ट्र Email:

acharyamegha20@gmail.com



हिंदी का अतीत और वर्तमान



भाषा

वर्तमान संदर्भ में निहित स्वार्थों की खातिर और वोट तंत्र की राजनीति ने हिंदी को कमजोर करने में कोई कमी नहीं छोड़ी है। बाजारवाद के पूर्ववर्ती और वर्तमान वैश्विक दौर में व्यापारिक पक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारत में अंग्रेजी का पोषण किसी हद तक व्यापारिक परिदृश्य के कारण होता रहा है और आज भी हो

'मैं हिंदुस्तान की तूती हूँ' अमीर खुसरा ने पैतृक भाषा तुर्की और फारसी पर हिंदी को वरीयता प्रदान की है। अगर आप मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिंदवी में पूछो। खुसरो ने 'हिंदवी' शब्द का प्रयोग मात्र 'हिंदी' के लिए नहीं किया अपितु संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं के लिए भी किया है। 'नुह सिपहर' के तीसरे सिपहर में जिन बारह हिंदुस्तानी भाषाओं का उल्लेख किया है उन सबको 'हिंदवी' कहा है -

सिंदी1-ओ-लाहौरी2-ओ कश्मीर3-ओ-गर4 घुर समंदरी5 तिलंगी6-ओ-गुजर7 माबरी8-ओ-गोरी9-बंगाल10-ओ अवध11

दिल्ली12-ओ-पैरामनश अंदर हमा हद

ईं हमा हिंदवीस्त ज़ि ऐय्याम-ए-कुहन

आम्मा बारस्त बहर गूना सूखन(1)

सिंदी, पंजाबी, कश्मीरी, मराठी, कन्नड़, तेलगु, गुजराती, तिमल, असिमया, बंगला, अवधी, दिल्ली और उसके आसपास जहाँ तक उसकी सीमा है इन सबके मिले-जुले रूप को हिंदवी नाम से जाना जाता है। हिंदी किसी एक भाषा का नाम न होकर एक भाषा-परंपरा का नाम है। इस भाषा-परंपरा के अंतर्गत खड़ी बोली, डिंगल, ब्रज, अवधी, हिंदी आदि की समस्त भाषा-उपभाषाओं का समावेश हो जाता है।(2) इस प्रकार अमीर ख़ुसरो की 'हिंदवी', पं. राजशेखर के सर्वभाषा सिद्धांत और लोक

पारिक परंपरा के जन किवयों की पडभाषा विचार(3) की भाषा संस्कृति को अपने में समेटे हुए है। जो मात्र आज की हिंदी के लिए न आकर पूरे भारत की भाषाओं के लिए आया है। वर्तमान हिंदी का जो स्वरूप है, उसे किसी जन बोली या क्षेत्र



विशेष की परिधि में बांधा नहीं जा सकता। निष्कर्षतः कह सकते हैं कि अमीर ख़ुसरो ने भाषित चेतना को राष्ट्रीय-सांस्कृतिक अस्मिता से जोड़कर हिंदी को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान किया। भाषा काव्यों की प्रकृति अधिकांशतः लोकान्मुखी रही है। गुजरात के मनीषी संत महामित प्राणनाथ ने इसे 'हिंदुस्तान' कहा है-

डॉ. चरणजीत सिंह सचदेव सब को प्यारी अपनी, जौ है कुल की भाख।
अब कहूँ मैं भाषा किन की, या में भाषा तौ कै लाखा।
बोली जुदी सबन की और सब का जुदा चलन।
सब उरझे नाम नाम जुदे घर, पर मेरे तो कहे ना सबना।
बिना हिसाबें बोलियाँ, मिने सकल जहान।
सब को सुगम जान के, कहूँगी हिंदुस्तान।।(4)

तत्कालीन युग में बोले जाने वाली भाषा-संस्कृति को 'हिंदवी' अपने में समेटे हुए थी। वही भाषा-संस्कृति आधुनिककाल में गांधी जी के भाषा विषयक विचार में 'हिंदुस्तानी' बनी है। आज की भाषित चेतना में अमीर खुसरो की आत्माबोलती है जो भारत की साझी विरासत की प्रतीक है। यह भाषा आज भी भारत, अफगानिस्तान, मध्य एशिया और ईरान आदि देशों के मध्य एक मजबूत सांस्कृतिक सेतु का कार्य भी कर रही है। ''इश्क-ए-इलाही'' में मस्त रह कर हिंदुस्तान की गालियों में अपना घर ढूँढने वाले मौलाना रूमी और कबीरदास ने अपनी वाणी रचना का आधार लोकभाषा को बनाया, जिसे किसी ने 'खिचड़ी' कहा तो किसी ने सधुक्खड़ी। भाषा के संदर्भ में कबीर का लोक-बोध बहुत समृद्ध है। कबीर शब्द विवेकी हैं। विवेकशील व्यक्ति किसी भी आधार पर समाज के बंटवारे को स्वीकार नहीं करता है। भाषा का विचार और संस्कृति से गहरा नाता है। किसी का साधु हो जाना ही पर्याप्त नहीं है - साधु भया तौ क्या भया, बोलै नांहिं बिचार। हतै पराई आतमां, जीभ बांधि तरवारि॥(5) कबीर अपढ़ है तो क्या हुआ, जीवन के गहन अनुभव से संपन्न हैं। शास्त्रज्ञाता पंडित की अपेक्षा शब्द विवेकी, जो प्रत्येक शब्द को 'हिये तराजू तोल के' अभिव्यक्त करता है, को मानुष मानते हैं - 'मानुष सोई जानिये, जाहि विवेक विचार।(6) कबीर का भाषा सामध्य अद्भुत है। कबीर ने संस्कृत को नकार कर जनभाषा को अपनाया। जनभाषा में अभिव्यक्ति की प्रयोगशीलता और स्वतंत्रता है जिसमें देशज आधुनिकता का पुट मिलता है। जड़ हो गए सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति कबीर के आक्रोश और आक्रामक तेवर में आधुनिकता का स्वर गूंज रहा है। वर्तमान संदर्भ में उसमें अमीर खुसरो की 'हिंदवी' की साझी विरासत की समस्त विशेषताएँ विद्यमान हैं। वस्तुतः हिंदी एक बहुभाषिक उपस्थिति है; जिसका आधार सामुदायिक है। हिंदी का राष्ट्रीय रूप है। सही अर्थों में हिंदी परंपरा है, 'कंसीडरेशंस ऑफ ऑल' है। यह 'एक' भाषा नहीं है, भाषाओं का समाहार है।

वर्तमान संदर्भ में निहित स्वार्थों की खातिर और वोट तंत्र की राजनीति ने हिंदी को कमजोर करने में कोई कमी नहीं छोड़ी है। राम विलास शर्मा ने उक्त संदर्भ में महावीर प्रसाद द्विवेदी के आशय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''हिंदी प्रदेश की एकता का प्रश्न प्रादेशिक प्रश्न मात्र नहीं है, वह जातीय प्रश्न के अलावा राष्ट्रीय प्रश्न भी है। इस देश की विभिन्न जातीय भाषाओं को मिलाने वाली, उनके बोलने वालों के बीच संपर्क के काम आने वाली एक ही भाषा है- हिंदी। इस हिंदी को भीतर से विघटित कर दो, उसका जातीय विकास छिन्न-भिन्न कर दो, तो राष्ट्रीय एकता का माध्यम अपने आप नष्ट हो जाएगा। यह बात द्विवेदी जी ने बहुत साफ-साफ 1926 में देख ली थी।''(8) 'हिंदी पर फिर विवाद' शीर्षक से हिंदुस्तान में छपे संपादकीय में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी जी के इस कथन में छुपी गहरी पीड़ा को समझना होगा कि संयुक्त राष्ट्र में हिंदी में भाषण करना आसान है, लेकिन अपनी संसद में उतना नहीं।''... प्रधानमंत्री बनने के बाद कन्नड़भाषी एच.डी. देवगौड़ा ने भी हिंदी सीखने का प्रयास इस कारण किया था कि भारत जैसे लोकतांत्रिक देश का राजकाज सिर्फ अंग्रेजी के जिरए नहीं चलाया जा सकता है।''

बाजारवाद के पूर्ववर्ती और वर्तमान वैश्विक दौर में व्यापारिक पक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारत में अंग्रेजी का पोषण किसी हद तक व्यापारिक परिदृश्य के कारण होता रहा है और आज भी हो रहा है। ''वे देश बड़े प्रच्छन्न रूप से इसके लिए प्रयत्नशील हैं कि भारत से अंग्रेजी न हटे, क्योंकि अंग्रेजी हटने का अर्थ है करोड़ों का व्यापार बंद हो जाना, जिससे अपूरणीय आर्थिक हानि होगी। वे यह भी जानते हैं िक अंग्रेजी-भाषी देशों के अतिरिक्त अंग्रेजी के प्रित जितना आग्रह और अनुराग भारत में है उतना िकसी दूसरे देश में नहीं। इसलिए वे हर तरह से चाहते हैं िक भारत में अंग्रेजी बनी रहे, क्योंिक इसी में उनका लाभ है - लाभ साधारण नहीं, असाधारण।''(9) अंग्रेज के प्रित संविधान का लचीलापन भी जिम्मेवार है। संविधान के अनुच्छेद 343(1) और 343(2) में यह कहने के उपरांत की सन 1965 से संघ की राजभाषा हिंदी होगी, अनुच्छेद 343(3) में यह कह कर अनिश्चितता पैदा कर दी गई िक संसद द्वारा सन 1965 के बाद भी कुछ प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी के प्रयोग का उपबंध कर सकती है।' आज तक जारी है। जिसने समय-समय पर अंग्रेजी को प्रोत्साहित िकया है। उक्त संदर्भ में देवेन्द्र नाथ शर्मा के विचार अवलोकनीय हैं - 'सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के इतिहास में दो समय बहुत संकट के रहे हैं - एक तो जब इस देश पर इस्लाम का आक्रमण हुआ दूसरे जब अंग्रेजों ने अपना शासन स्थापित िकया। इस्लाम की विजय सैनिक शक्ति विजय थी, िकंतु अंग्रेजों की विजय बौद्धिक शक्ति विजय थी। इसीलिए प्रायः सात सौ वर्षों में इस्लाम से भारतीय संस्कृति को जो क्षति नहीं पहुँची, वह डेढ़ सौ वर्षों के अंग्रेजी शासन में पहुँची।(10) सिनेमा, विज्ञापन, और तकनीक आदि में जहाँ-जहाँ हिंदी का प्रयोग हो रहा है वह हृदय से नहीं आर्थिक लाभ और व्यापारिक हितों की भूमिका महत्वपूर्ण है।

भूमंडलीकरण के दौर में जब पूरा विश्व एक गाँव में बदल रहा हो और सूचना क्रांति ने दूरियों को पाट दिया हो तब हम विश्व की किसी भी नवीनतम खोज के प्रभाव से अछूते नहीं रह सकते हैं। नए आविष्कार, खोज और तकनीक अपने कथ्य के अनुरूप नए शब्दों को गढ़ते हैं। समाज और शिक्षा के क्षेत्र में उनका प्रचलन नए बोध को विकसित करता है। बदलते वैश्विक परिदृश्य में उसे समझने की आवश्यकता है। हिंदी विश्व-भाषा बने इसके लिए हिंदी को नेय बोध को वहन करने के लिए अपनी भाषिक क्षमता को विकसित करना होगा। शब्दों को व्यवहार में लाने के लिए लचीलापन लाना होगा। शब्दों के आदान-प्रदान की प्रक्रिया में उदार होना जरूरी है। शुद्धतावादी दृष्टिकोण इसमें बाधक हो सकता है। समय और परिस्थितियों के अनुसार हमें ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र की प्रकृति के अनुरूप हिंदी के ढालना होगा। मात्र 'दिवस' मनाने से हिंदी उस मुकाम पर नहीं पहुँच सकेगी।

भारतेन्दु ने 18वीं शताब्दी में ही 'निज भाषा' प्रेम का मूल मंत्र हमें दिया था। 'राजभाषा' के रूप में हिंदी की प्रतिष्ठा का विचार भी उन्हीं की देन है - 'प्रचलित करहु जहान में, निज भाषा किर जन्त। राज-काज दरबार में, फैलाहवु यह रत्न। निज भाषा उन्नित करहु प्रथम जो सबको मूल।'(11) श्रीधर पाठक ने 'एक हिंदी एक हिंद' का सपना देखा था। 'हिंदी का आर्तनाद' में उनकी पीड़ा अवलोकनीय है - 'सुनो कोउ हिंदी हू की टेर'। पाठक जी ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम हिंदी भाषा को बनाने के ही पक्ष में थे। उक्त संदर्भ में गांधी जी का मत भी उल्लेखनीय और अवलोकनीय है - 'मैं अपनी बात अपनी भाषा में कहूंगा। जिसको गरज होगी वह सुनेगा। आप इस प्रतिज्ञा के साथ काम करेंगे, तो हिंदी भाषा का दर्जा बढ़ेगा।'' 15 अगस्त 1947 को बी.बी.सी. लंदन को दिया गया संदेश हिंदी की महत्ता का उद्घोष करता है-

''अंग्रेजी मोह से बड़ी मूर्खता कोई नहीं, दुनिया से कह दो कि गांधी अंग्रेजी नहीं जानता।''

मोहनदास करमचंद गांधी

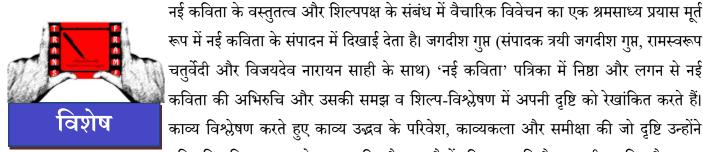
महात्मा गांधी भारतीय भाषाओं के व्यवहार जोरदार पक्षधर थे। गांधी जी के मातृभाषा प्रेम पर महावीर प्रसाद द्विवेदी की टिप्पणी उल्लेखनीय है, ''गांधी जी मातृभाषा के कितने प्रेमी और हिंदी प्रचार के कितने पक्षपाती हैं, यह बात उनके लेखों और वक्तृताओं से अच्छी तरह प्रकट है। इस बात को वे देशोद्धार और देशोन्नित का प्रधान साधन समझते हैं। यही राय अन्य अनेक देश भक्तों की है।... गांधी जी के जितने काम होते हैं, उनके गम्भीर विचारों के निष्कर्ष के आधार पर होते हैं। बिना खूब गहरा विचार किए, बिना दूर तक सोचे, बिना परिणाम पर अच्छी तरह ध्यान दिए, वे न कोई राय ही क़ायम करते हैं और न कोई काम ही करते हैं। इसी से उन्हें अपने प्रयत्नों और उद्योगों में कामयाबी होती है। वे बड़े विवेकशील हैं।''(12) हिंदी का वर्तमान बेहतर तभी हो सकता है जब हम भावात्मक दृष्टि से उसी प्रकार एकजुट हों जैसे स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व थे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- गोपीचंद नारंग, अमीर खुसरो का हिंदवी काव्य, पृ. 24.
- मिलक मोहम्मद (संपा.), अमीर खुसरो भावात्मक एकता के मसीहा, पृ. 86.
- (क) 'षटभाषा पुरानं न कुरानं कथितं मया' संक्षिप्त पृथ्वीराज रसो, आदिपर्व, श्लोक 25, पृ. 20.
- (ख) 'षट भाषा स्वर सप्त ले, पिंड ब्रह्मांड व्योरे किये।' रज्जब वाणी, पृ. 451.
- (ग) 'ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग जमन आखिन।
- सहज पारसीह् मिलै, खट विधि कवित बखानि॥
- भिखारीदास, काव्य निर्णय, दोहा 15, पृ. 191.
- (घ) 'कई भाषाओं की शब्दावली के योग से जो भाष-प्रयोग का समन्वित रूप होता था, उसी को षड्भाषा नाम दिया गया है। यहाँ 'षट्' का मतलब छह की संख्या विशेष नहीं है। यह संख्या तो अधिक भी हो सकती है और कम भी। रमेशचंद्र मिश्र, संत साहित्य और समाज, पृ. 522.
 - महामित प्राणनाथ, तारतम बानी कुलजम सनध, 13-15.
 - कबीर ग्रंथावली (संपा. पारस नाथ तिवारी), सा. 15, पृ. 185.
 - संत बाणी संग्रह-1, विवेक.
 - रमविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरा, पृ. 236.
 - देवेन्द्रनाथ शर्मा, राष्ट्रभाषा हिंदी: समस्याएँ और समाधान, पृ. 161.
 - वही, पृ. 163.
 - भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ.
 - रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, पृ. 191.



जगदीश गुप्त के काव्य विचार: आलोचना का एक प्रयास



कला को नितांत निरपेक्ष और पवित्रता का जामा पहनाना जीवन से पलायन होगा। परंत् कला में वर्ग संघर्ष कलात्मक सर्जना के द्वारा ही संभव है निरा नारेबाजी या राजनीतिक बयानबाजी द्वारा नहीं। छायावाद से मूल्य और अभिव्यक्ति के प्रश्न पर नर्ड कविता के संघर्ष की बात जगदीश गुप्त भी करते हैं परंतु अगर राजनीतिक जीवन के चित्रण और मजद्र संघर्ष के जीवन के संघर्ष का राजनीतिक चित्रण काव्य में आता है तो उस पर नारे बाजी का आरोप लग जाता है।

रूप में नई कविता के संपादन में दिखाई देता है। जगदीश गुप्त (संपादक त्रयी जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी और विजयदेव नारायन साही के साथ) 'नई कविता' पत्रिका में निष्ठा और लगन से नई कविता की अभिरुचि और उसकी समझ व शिल्प-विश्लेषण में अपनी दृष्टि को रेखांकित करते हैं। काव्य विश्लेषण करते हुए काव्य उद्भव के परिवेश, काव्यकला और समीक्षा की जो दृष्टि उन्होंने प्रतिपादित किया वह न केवल उनकी और उन जैसों की काव्यदृष्टि है वरन जीवनदृष्टि और समय समीक्षा भी है। रचनाकार द्वारा प्रतिपादित दृष्टि और समीक्षक-आलोचक-विचारक की दृष्टि जब किसी घटना अथवा रचना पर अपनी अभिव्यक्ति देती है तो वह केवल घटना मात्र तक सीमित नहीं रह जाती है। नई कविता पत्रिका के संकलित खंडों के संपादन के समय प्रथम खंड- 'नई कविता- खंड एक- सैद्धांतिक पक्ष' के फ्लैप पर जगदीश गुप्त का वक्तव्य है जो नई कविता पत्रिका के बारे में है। ''नई कविता वाद-मुक्त धरातल को केंद्र में मानकर सन 54 में प्रकाशित हुई। प्रगतिवाद मार्क्सवाद से प्रेरित होकर हिंदी साहित्य में स्थापित हुआ और प्रयोगवाद वैज्ञानिक चेतना को आधार मानकर अस्तित्व में आया। जबिक नई कविता विशुद्ध काव्य भूमि की नवीनता से उपजी है और 1954 से 67 तक आठ अंक उत्तरोत्तर समृद्ध के साथ प्रकाशित हुए "। 'नई कविता' पत्रिका के बारे में यह कथन उस समय के वैचारिक अवस्थितियों की एक झलक प्रस्तुत करता है। नई कविता और उसके 'वाद-मुक्त' धरातल-, जैसा कि जगदीश गुप्त बताते हैं, को केंद्र मानकर कहाँ तक यह बहस वाद-मुक्त हो सकी है यह कला-मूल्य निर्धारण की बहस में देखा जा सकता है। आधुनिक यूरोपीय दर्शन से लेकर हिंदी साहित्य में विचारकों को सहज मनुष्य और वाद-मुक्ति कई बार दरकार महसूस हुई है, परंतु वाद को अगर हम जीवन दृष्टि और उसकी व्यावहारिक परिवर्तनशीलता और जीवन व्यवहार के सहयोगी के रूप में देखें तो विचारधारा के अनाग्रह और 'वाद-मुक्ति' का भी एक वाद होता है। समाज में पला बढ़ा मनुष्य निश्चय ही किसी जीवन दृष्टि से परिचालित होगा चाहे उसकी स्पष्टता के प्रति वह सचेत हो या न हो, परंतु उसके आचार-व्यवहार में वह अंतर्निहित ही होगी। रचना-प्रक्रिया जीवन-प्रक्रिया से गहरे जुड़े होने के कारण वैचारिकता से मुक्त नहीं हो सकती और प्रत्येक वैचारिक कथन और प्रतिपादन की जीवनदृष्टि निरा वाग्जाल सृजन नहीं, बल्कि उसकी एक वास्तविक वस्तुपक्षीय-क्रियान्वयन की दिशा निर्देशिका भी होती है। और इस संसार में जहां विभिन्न वर्गीय अंतर्विरोधों का अस्तित्व है उसकी एक पक्षधरता भी होती है। इस मामले में यह वाद-मुक्ति आग्रह आवश्यक है और यह निरा वाद मुक्ति नहीं वरन अपने अनुकूल वाद युक्ति का सृजन और संप्रेषण भी है।

प्रयोगवाद वैज्ञानिक चेतना से प्रभावित था। इस विश्लेषण और इसके साथ मार्क्सवाद का नाम भी लिया गया है, लेकिन क्या मार्क्सवाद वैज्ञानिकता से युक्त नहीं है? वैज्ञानिक-भौतिकवाद की विचारधारा और द्वंद्वात्मकता से इतर वह कौन सी वैज्ञानिक चेतना थी जिसे प्रयोगवाद लेकर चल रहा

प्रेम प्रकाश

था और जिसकी तरफ जगदीश गुप्त ने संकेत किया है। इस कथन द्वारा जगदीश गुप्त की मार्क्सवाद की समझ और साथ ही प्रयोगवाद की वैज्ञानिक चेतना की दृष्टि की समझ को समझा जा सकता है। हालांकि प्रयोगवाद की उपरोक्त कथित 'वैज्ञानिक चेतना' अलग से विश्लेषण का विषय है परंतु यह दृष्टि जगदीश गुप्त की आधुनिकता और काव्य दृष्टि विवेचन के समझ का संकेत जरूर करती है। उसी पुस्तक की भूमिका में जगदीश गुप्त ने कहा है कि "परिमल के सब लोग एक साथ जुड़कर इस अभियान को चला रहे थे।" जगदीश गुप्त अगर कुछ लोगों के साथ मिलकर नई कविता के संबंध में एक दृष्टिकोण के साथ 'अभियान' चला रहे थे तो फिर क्या यह वाद-मुक्त धरातल क्या था, जिसकी गुहार जगदीश गुप्त लगा रहे हैं; वह स्वत: प्रमाणित है। धर्मवीर भारती के 'निकष' पत्रिका निकालने के साथ उपेंद्रनाथ अश्क जब 'संकेत' पत्रिका निकालते हैं तो उसे जगदीश गुप्त 'प्रगतिशीलता की झंडेबरदारी' कहते हैं। इस बात में निहित व्यंग से स्पष्ट है कि जगदीश गुप्त जिसे वाद-मुक्त धरातल और विशुद्ध काव्य भूमि कहते हैं वह न तो वाद मुक्त है और न ही विशुद्ध काव्य भूमि। मानव चेतना में सामाजिक जीवन के बहुआयामी बाह्य के साथ क्रिया-प्रतिक्रया के तत्वों की उपस्थित के बाद भी कोई विशुद्ध काव्य की बात करे तो उसे क्या कहा जाए?

नई कविता के उदय और उसके भावक वर्ग के बारे में बात करते हुए जगदीश गुप्त ने नई कविता को नई अभिरुचि बताया। यह नई अभिरुचि क्या है जो नई कविता के मूल्य निर्धारण, समझ निर्धारण के लिए मूल्यवान है। नई कविता के बारे में वे कहते हैं "साहित्य और कला के क्षेत्र में समस्त सर्जन व्यक्तिगत प्रयत्न से ही प्रतिफलित होता है; किंतु किसी भी नवीन मौलिक रचनात्मक प्रयत्न का उद्देश्य मूलतः नितांत निरपेक्ष एवं सीमित आत्मतोष ही नहीं होता — न ही हो सकता है। हर रचनात्मक प्रयत्न के पीछे आत्माभिव्यक्ति के साथ आत्मविस्तार की भावना भी निहित रहती है, जो अन्य सापेक्ष है। अभिव्यक्ति से उपलब्ध तोष अनुभूति से 'मुक्ति' का तोष है और विस्तार की भावना से अर्जित तोष 'प्राप्ति' का घोतक है; अत: दोनों में सूक्ष्म भेद है।"

उपरोक्त कथन में जहां काव्य रचना प्रक्रिया में आत्माभिव्यक्ति - आत्मतोष एवं आत्मविस्तार की भावना के बारे में एक हद तक सही दृष्टिकोण रखा गया वहीं दूसरी तरफ सर्जना के प्रयत्न-दृष्टि के मतभेद और साहित्य के प्रति व्यक्तिनिष्ट पक्ष और चिंतन और चेतना की निर्मिति और कलात्मक सृजन से उसके संबंध के बारे में एक प्रतिक्रियावादी जनविमुख सिद्धांत का प्रतिपादन भी है।

'समस्त सर्जन व्यक्तिगत प्रयत्न से ही प्रतिफलित होता है', यह सत्य है कि काव्य कला व्यक्ति आश्रय पाकर ही अस्तित्वमान होती है और इसी रूप में व्यक्ति कलाकार की मेधा की स्वीकृति भी सर्वमान्य है। परंतु यह भी सत्य है कि कला के उद्भव व उसकी रचना प्रक्रिया में चेतना के तत्व और उसकी भूमिका निसंदेह है। और मनुष्य के चेतना के निर्माण में समाज के तत्व, बाह्य जीवन और उस जीवन के आत्मसातीकरण के तत्व महत्वपूर्ण होते हैं और काव्य के व्यक्तिगत प्रयत्न का आशय महज यह है कि बौद्धिक और कलात्मक सृजन की अभिव्यक्ति कई माध्यमों में व्यक्ति का आश्रय पाकर मूर्तिमान होती है, परंतु व्यक्ति कलाकार की चेतना निर्मिति बाह्य के क्रिया-प्रतिक्रिया से अभिन्न जुड़ा है। काव्य भाषा के माध्यम से व्यक्त होता है और भाषा के रूप में सृजन का यह माध्यम सामाजिक है, इसी रूप में काव्य एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है न की नितांत व्यक्तिनिष्ट।

नई कविता की अभिरुचि के संबंध में बात करते हुए नए किव के काव्य के भावक वर्ग के बारे में जगदीश जी ने लिखा है कि नया किव 'विवेकशील प्रबुद्धचेता भावक' को लक्ष्य कर सृजन करता है। साथ ही रुढ़िवादी एवं पूर्वाग्रही वर्ग को उसकी अत: स्थित के कारण नई किवता के सौंदर्यबोध और अनुभूति से वंचित होने की बात कही है। यह बात सच है कि किसी भी काव्य के रसास्वाद और उसकी संपूर्ण समझ के लिए किव के बौद्धिक संवेदन को समझना जरुरी है। साथ ही जब विवेकशील भावक-वर्ग, प्रबुद्धचेता भावक की कल्पना के साथ ही जिस पूर्वाग्रही की तरफ उनका संकेत है वह कौन है? वे पूर्वाग्रही वर्ग की चर्चा करते हुए बताते हैं कि ''किव के रूप में किए गए हर प्रयत्न को वे व्यर्थ और हीनतर तथा प्राचारक के रूप में किए गए प्रयत्न को सार्थक और

श्रेष्ठतर समझते हैं।" यहां लक्ष्य प्रगतिवाद और मार्क्सवाद है यह द्रष्टव्य है।

कला का मंच वर्ग संघर्ष और वैचारिक संघर्षों का मंच बन जाता है, क्योंकि वर्ग समाज में कलाकार भी जिन विचारों और जीवन मूल्यों को रचता है, उसकी दृष्टि जिस रचना संसार का सृजन करती है वह वर्गेतर जीवन दृष्टि नहीं होती। उसमें मनुष्यता के सारतत्व की अभिव्यक्तियां कम या अधिक मात्रा में हो सकती हैं अथवा प्रतिक्रियावादी भी हो सकती हैं। कला को नितांत निरपेक्ष और पिवत्रता का जामा पहनाना जीवन से पलायन होगा। परंतु कला में वर्ग संघर्ष कलात्मक सर्जना के द्वारा ही संभव है निरा नारेबाजी या राजनीतिक बयानबाजी द्वारा नहीं। छायावाद से मूल्य और अभिव्यक्ति के प्रश्न पर नई किवता के संघर्ष की बात जगदीश गुप्त भी करते हैं परंतु अगर राजनीतिक जीवन के चित्रण और मजदूर संघर्ष के जीवन के संघर्ष का राजनीतिक चित्रण काव्य में आता है तो उस पर नारे बाजी का आरोप लग जाता है। जनता के संघर्ष को और सामूहिकता के काव्यगत चित्रण हर हमेशा प्रचार नहीं होता।

प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादक की बात करते हुए भी जगदीश गुप्त के विवेकशीलता की एक सीमा है। वहां यह प्रबुद्ध की दृष्टि काव्य की व्यक्ति अनुभूति के वैशिष्ट्य तक ही सीमित कर देती है। इस विवेकशीलता में अगर व्यवहारिक सकर्मक संघर्ष है तो ठीक नहीं है।

'नई कविता: नया संतुलन' में जगदीश गुप्त ने लिखा है कि "मैं कविता को मानवीय चेतना की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति का श्रेष्टतम रूप मानता हूँ। उसे मनुष्य मात्र की मात्री भाषा कहा गया है।. ..युग मानस के सूक्षतम आवर्तनों-विवार्तनों का परिचय शब्दों, अर्थों, भावों और विचारों के नए संतुलन से मिलता है... आज जो संतुलन घटित हो रहा है वह अब तक होने वाले संतुलनों की अपेक्षा अधिक तलस्पर्शी, अधिक मौलिक है, क्योंकि मानव व्यक्तित्व को इतना अधिक महत्त्व किसी युग में नहीं मिला और न उसके आगे मानवता के सामूहिक निर्माण और विनाश का प्रश्न ही इससे अधिक उग्र होकर आया।" अर्थात कविता में नए युग प्रश्नों के अनुसार भावों, विचारों और विचारों के परिवर्तन के नए संतुलन मिलते हैं। और यह युग मानस में व्यक्त होता है। कविता ऐसे प्रत्येक परिवर्तनके साथ हमेशा नया रूप ग्रहण करती है। सही है, क्योंकि युग परिवर्तन के साथ सामाजिक परिवर्तन व्यक्ति की चेतना और जीवन के सामने प्रश्न खड़ा करता है और इस वस्तुगत जीवन परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ काव्य शिल्प के संपूर्ण परिवर्तन में बदलाव उपस्थित होना लाजमी ही है। नई कविता के संबंध में उसकी वस्तु-शिल्प में परिवर्तन के कारण उसके बाह्य जीवन-जगत में मौजूद परिस्थितियां ही हैं।

आगे वे कहते हैं कि आज 'व्यक्तित्व का घेरा इतना अधिक फैल गया है कि संपूर्ण मानवता के क्षय और जय की समस्या उसके अपने जीवन और मरण की समस्या बन गई है; फलतः आज के नए साहित्य का यह विचित्र विरोधाभास है कि यह अनुभूति में व्यक्तिनिष्ठ होकर भी उद्देश्य और दृष्टिकोण में अधिकाधिक सामाजिक होता जा रहा है।"

इसमें एक विरोधात्मक बात कही गई है जबिक नए किव के व्यक्तित्व में उसके मानवता का दायरा बढ़ने की बात कही गई है तो उसमें रचियता के व्यक्तित्व के दायरे के विकास का अर्थ यह होना चाहिए कि वह बाह्य घटना के संदर्भ में अपने ज्ञान का विस्तार करे और समस्याओं के तह में जाने के लिए एक तर्कसंगत – वस्तुसंगत दृष्टि विकसित करे तभी मानवता के क्षय और हास के मूल कारणों को वह परख सकता है। और ऐसे युग सचेत, आत्मसचेत रचनाकार द्वारा सृजित काव्य हमेशा आत्माभिव्यक्ति के बावजूद तत्व की दृष्टि से व्यक्तिनिष्ठ या व्यक्तिबद्ध होने की बजाए सामाजिक दृष्टि से व्यापक और बाह्य जीवन की वस्तुगत सच्चाइयों के अनुरूप होगा। सामाजिकता के तरफ गितमानता हमेशा नए कर्तव्यबोध की तरफ ले जाता है। केवल आर्त पुकार किसी मानववाद को स्थापित नहीं कर सकती। ऐसे काव्य में शैली-अभिव्यक्ति की एक बाह्य कर्तव्य संगत कर्मनिष्ठ गितमानता होती है।

राजनीतिक मतवादों और उनके पारस्परिक संघर्ष की छाया कवि पर पड़ने की बजाए वह काव्य रचना स्व-चेतना से करता है -ऐसा जगदीश जी का मत है। कवि का समर्पण 'जीवन सत्य' के आगे होता है। परंतु कवि-चेतना, सर्जनात्मक —चेतना की रचना-संरचना में बाह्य जीवन-जगत और उसके आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया में जो चेतना के तत्व की निर्मिति होती है उसकी प्रकृति सर्वथा सामाजिक होती है। हालांकि व्यक्ति समाज के द्वंद्वात्मक संबंधों के बीच ही उसका विकास होता है। समाज परिवर्तन के संघर्ष का एक आयाम राजनीति है। यह वही आयाम है जिसके रास्ते महात्मा गांधी, राममनोहर लोहिया, अंबेडकर और भगतिसंह आदि ने मनुष्यता की मुक्ति की बात सोची थी। विद्यार्थी और राजनीति पर बात रखते हुए भगतसिंह का लेख इसका जीता जगता उदाहरण है कि इन्सान की मनुष्यता की शर्तें तूफ़ान के दौर में शुतुरमुर्गी छुपम-छुपाई की बजाए उसके सामने डटकर खड़े होने से है। तब जगदीश गुप्त के अंदर राजनीतिक वाद-विवाद से प्रभावित होने के प्रति इतना भय क्यों? जब यह सत्य है कि जीवन का प्रत्येक क्षेत्र काव्य-रचना का विषय बन सकता है तो राजनीतिक संघर्ष में लगा मानव समूह अगर अपनी जीवन स्थितियों को बदलने का संघर्ष करता है तो इस जीवन स्थिति का काव्यात्मक रचनात्मक चित्रण क्या जीवन चित्रण से अलग होगा। हाँ कोई भी इसे रचनात्मक रूप में ही स्वीकार करेगा न कि किसी सपाट बयानी या पत्रकारिता या राजनीतिक लेखन के रूप में। कविता के विषय वैविध्य की बात करते हुए स्वयं जगदीश गुप्त इसके विस्तार को स्वीकार करते हैं और लिखते हैं कि "आज कविता उसके लिए मात्र आनंद की वस्तु न होकर और भी कुछ है। नई कविता में क्षोभ, व्यंग और कर्कसता को देखकर कुछ काव्य रिसक उदास हो जाते हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि जब जीवन का अंग होने के कारण काव्य में जुगुप्सा, शोक, क्रोध और भय आदि विकर्षणात्मक भाव भी ग्राह्य हो सकते हैं और रस की सृष्टि कर सकते हैं तो क्षोभ आदि को ही क्यों अग्राह्य माना जाए।'' परंतु इन सबके बावजूद इस सबका रुझान व्यक्तिनिष्ट ही होना चाहिए इससे इतर उसकी ग्राह्यता जगदीश गृप्त के लिए नहीं है।

रूप विधान के बारे में जगदीश गुप्त अपना अभिमत देते हुए यह बताते हैं कि "चेतना की परिधि के विस्तार तथा कवि व्यक्तित्व के विकास एवं स्वातंत्र्य का परिणाम काव्य के रूप पर पड़ना अनिवार्य है और उचित भी, क्योंकि रूप विधान सदा युग विशेष की मनः स्थिति को प्रतिबिंबित कारता आया है।" परंतु यह प्रश्न जरूरी है कि कवि व्यक्तित्व, चेतना विस्तार एवं कवि स्वातंत्र्य के वर्गीय रुझान क्या हैं? यह अर्धसत्य है -- मात्र रूप विधान और विधागत परीक्षण करके यह नहीं कहा जा सकता है कि इससे युग विशेष की मनःस्थिति और संघर्ष प्रतिबिंबित होते हैं, परंतु सत्य को व्यापक और सही परिप्रेक्ष्य में रखते हुए ही उसे समझा जा सकता है। कला रूपों और उनके रूप विधान के विकास पर अगर दृष्टि डाली जाए तो यह साफ़ है कि युग सत्य कोई एकाश्मी नहीं होता। वह वैविध्य लिए हुए होता है और उसकी वर्गीय स्थिति होती है। अतः युग सत्य को प्रकट करने के लिए वह युगीन परिस्थितियां और युगीन यथार्थ से उत्पन्न कला का वह वस्तु सत्य ही वह मूलभूत चीज है जो कलाकार को पूरी समग्रता में प्रकट करने के लिए उपयुक्त रूप विधान का निर्माण करता है। साथ ही रूप विधान के बाह्य तत्वों में अंतर्स्थित अंतर्वस्तु को छोड़कर बात की जाए तो ऐसा भी हो सकता है कि नई कविता के इसी रूप विधान में सर्वथा प्रतिक्रयावादी विचार भी व्यक्त हो सकते हैं। युगबोध और युग सत्य का चेतना पर दबाव ही रचनात्मक अंतर्वस्तु के अनुरूप रूप विधान का निर्माण करती है। रूप विधान युगसत्य को व्यक्त कर सकता है, वह आंशिक रूप में व्यक्त कर सकता है अथवा नहीं भी व्यक्त कर सकता है। वस्तु सत्य के अपर्याप्त गलत या आंशिक चित्रण से युग यथार्थ का कलात्मक प्रतिबिंबन नहीं होता है। युग सत्य को रूप विधान के ऊपर छोड़ देने से जीवन सत्य का सौंदर्यात्मक कलात्मक सृजन अपनी संपूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता जब तक कि कलाकार जन संग ऊष्मा और जन जीवन के वास्तविक वस्तुगत यथार्थ से संसर्ग रखते हुए सकर्मक क्रियात्मक-वैचारिक हस्तक्षेप द्वारा चेतना के विकास की क्रिया में सहभागी नहीं होता।

छंद मुक्त रचनाओं पर बात करते हुए जगदीश गुप्त उसके उद्भव को समय के मूड और मिजाज से जोड़ते हैं और जीवन में बंधन और निषेधों के प्रति अरुचि को उसका कारण मानते हैं; और यह एक कारण है भी। परंतु संपूर्णता में कला के माध्यमों, शैलियों और रूप विधान के पीछे परिवर्तन की जन्मदायी जीवन की वास्तविक दशाएं, सामाजिक अंतर्संबंध, युग की भौतिक स्थितियां हैं जो कलात्मक सृजनकर्ता के चेतस रचनात्मक संवेदना और ज्ञान के अनुभूत सत्य को व्यक्त करने के लिए मथती हैं और वह उसके लिए उचित शैली एवं माध्यमों की तलाश करता है। जीवन सत्य की सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति की कलात्मक कसक ही वह भूमि है जहां से अभिव्यंजना के लिए नई रचना शैली, छंद विधान और नई कविता के लिए मुक्त छंद पैदा हुआ और यह प्रयास निराला द्वारा छायावाद में शुरू होकर प्रगतिवाद के दौर में विकासमान होकर आगे बढ़ा।

नई कविता के ऊपर गद्यात्मकता के आरोप को खंडित करते हुए एक सटीक बात जगदीश गुप्त ने नई कविता के संदर्भ में उठाई है और वह है उसकी लयात्मक प्रकृति। नई कविता में अर्थ की लय की बात को स्थापित करते हुए तर्कों से पुष्ट करते हैं, ऐसा नहीं था कि अर्थ की लय की बात कही ही नहीं गई हो। या कविता की प्रकृति में उसकी अर्थगत अभिव्यंजना को पहले देखा ही नहीं गया हो। जब 'शब्दार्थोसहितंकाव्यं' की बात कही गई थी तो रचनाकार की दृष्टि में अर्थ की भाव-तरंगान्वति से संबद्ध सोच अवश्य ही रही होगी। परंतु नई कविता में अर्थ की लय की स्थापना के संबंध में वह कहते हैं कि अर्थ तत्व की लयात्मकता पर ध्यान देने से ही आज की कविता की संगीत प्रकृति को समझा जा सकता है। छंद की बजाए अर्थ के तत्व और वस्तु-भाव तत्व के बौद्धिक प्रस्तुतीकरण को आज की कविता का लक्षण बताते हैं। 'नई कविता: अर्थ की लय' लेख में नई कविता की अर्थ की लय के बारे में ठीक बात कही गई है। नई कविता में लयात्मकता का बोध शब्दगत न होकर अर्थ भंगिमाओं और उससे प्रसूत भावभंगिमाओं के साथ चलता है। काव्य की आत्मा के प्रश्न पर विचारते हुए उन्होंने कहा कि प्राचीन काव्य सिद्धांतों के आधार पर आज नई कविता को देखने से अपर्याप्तता मिलेगी। क्योंकि "आज के युग के बुद्धिजीवी मनुष्य के लिए यह संभव नहीं है कि वह यथार्थ की उपेक्षा कर दे या संवेग से पराजित सौंदर्यबोध से पूरी तरह समझौता कर ले।" जगदीश गुप्त ने मराठी विचारक अरविन्द मारूलकर तथा पाश्चात्य विद्वानों आई ए रिचर्ड्स, स्टीफेन स्फेन्डर, टी एस इलिएट के माध्यम से अर्थ की, लय की पुष्टि की और कहा कि "अर्थ की लय का प्रश्न नयी कविता के रूप विधान से संबंध रखता है।" "जिस प्रकार ध्विन अथवा शब्द- खंडों का फिर -फिर कर आना क्रमिक रूप से लय के विभिन्न प्रकारों को जन्म देता है उसी प्रकार अर्थ खंडों का क्रमिक, ग्रथित आवर्तन-प्रत्यावर्तन अर्थ के ले के विविध रूपों की सृष्टि करता है।"11 शिल्प विधान में अर्थ की लय के बारे में लिखा कि आज के बौद्धिक युग में भावावेगपूर्ण उद्गार क्षण में अर्थ संगतियों की 'ऋजुता' एक मानसिक आत्मिक संगीतात्मक लयात्मकता की सृष्टि कविता में करती है। यह भाव-अर्थ बोध की प्रक्रिया में देखा जा सकता है। साथ ही "अर्थ कि लय एक ऐसी वास्तविकता है कि जिसका लोप छापने या लिखने की बाह्य विधि से संभव नहीं है।"12 वह काव्य में शब्द की सत्ता शब्दार्थ के आपसी संबंधों को स्वीकार करते हुए ही सौंदर्य को देखते हैं। 13

नई किवता के अंतर्वस्तु के संबंध में जगदीश गुप्त का दृष्टिकोण की समीक्षा जरूरी है। यह उसे नए मनुष्य की प्रतिष्ठा के रूप में देखते हैं। 'नई किवता : नए मनुष्य की प्रतिष्ठा' लेख में वे अपने इस विचार को रखते हैं। वह नए मनुष्य को युग परिवेश के प्रति सचेत व्यक्ति के रूप में देखते हैं। "नया मनुष्य रूढ़िग्रस्त चेतना से मुक्त, मानव मूल्य के रूप में स्वातंत्र्य के प्रति सजग, अपने भीतर अनारोपित सामाजिक दायित्व का स्वयं अनुभव करने वाला, समाज को समस्त मानवता के हित में परिवर्तित करके नया रूप देने के लिए कृतसंकल्प, कृटिल स्वार्थ भावना से विरत, मानव मात्र के प्रति स्वाभाविक सह-अनुभूति से युक्त, संकीर्णताओं और कृत्रिम विभाजनों के प्रति क्षोभ का अनुभव करने वाला, हर मनुष्य को जन्मतः सामान मानने वाला, मानव व्यक्तित्व को उपेक्षित, निरर्थक और नगण्य सिद्ध करने वाली किसी भी दैनिक शक्ति या राजनैतिक सत्ता के आगे अनवनत, मनुष्य के अंतरंग सद्वृत्ति के प्रति आस्थावान प्रत्येक व्यक्ति के स्वाभिमान के प्रति सजग, दृढ़ एवं संगठित अन्तःकारण संयुक्त, सिक्रय किंतु अपीड़क; सत्यनिष्ठ तथा विवेक संपन्न होगा।" वे सत्य को जानने और परखने वाली शक्ति को आत्मा शक्ति के रूप में देखते हैं। ¹⁵ साथ ही वे सहधर्मी एवं सह- अनुभूति के विस्तार के कारण एक वैश्विक विस्तार देखते हैं। वे मनुष्य को किसी बंधी बंधाई परिभाषा से अलग और परंपरागत

देव दानव के विभाजन को गलत मानते हैं। जगदीश गुप्त के इस कथन से और उसमें निहित मूल्यों से असहमत नहीं हुआ जा सकता। परंतु मूल्यों की पहचान और संघर्ष की प्रक्रिया का जब तक वस्तुपरक विश्लेषण न हो तब तक यह एक भावनात्मक अपील से अधिक कुछ नहीं होती और कला में यथार्थ से दूर जाने के लिए एक स्पेस भी पैदा करती है। चेतन आत्मशक्ति कोई एकांतिक व्यक्तिनष्ट शक्ति नहीं है और न ही उसका संबंध निर्वात से है। इसका परिमार्जन और उत्तरोत्तर परिवर्धन परिवर्तन होता रहता है। चेतना वास्तविक जीवन की सामाजिक क्रियाओं में सहभागिता के परिणाम स्वरूप पैदा और दृष्टि के रूप में विकसित होती है यह कोई स्थैतिक चीज नहीं है। इस रूप में जानने की प्रक्रिया चीजों को बदलने की प्रक्रिया का अंग है और चीजों को बदलने की प्रक्रिया में ही विचारों के बदलने की प्रक्रिया में ही विचारों के बदलने की प्रक्रिया ची है। जगदीश गुप्त की बातों में जो उल्लेख मिलता भी है वह उपदेशात्मक अधिक और क्रियात्मक कम है। व्यवहारस्त क्रियाशील बुद्धि का चरित्र समप्रतः देखने का होता है वह जिस द्वंद्व से संचालित होती है वहां समाजिक बुराइयों, परेशानियों की तलाश करती हुई सारे समाज के सभी मनुष्यों के उद्देश्य को वर्ग समाज में एक ही नहीं देखती। अगर सभी मनुष्य के उद्देश्य को वर्ग समाज में एक ही नहीं देखती। अगर सभी मनुष्य के उद्देश्य को वर्ग समाज में एक ही नहीं देखती। अगर सभी मनुष्य के उद्देश्य को वर्ग समाज का वर्गगत विभाजन और मनुष्यता को खतरे की तरफ ले जाने वाली शक्तियों (जो की मानवजाति के ही हैं) से प्रगतिकामी शक्तियों के संघर्ष के व्यावहारिक रूप के प्रति भी सचेष्ट होती है। जगदीश जी के यहां यह विश्लेषण गायब होने के कारण यह एक ऐसी उक्ति लगती है जो जीवन जगत को बदलने के उद्देश्य से दूर महज मानसिक व्याख्या तक सीमित रह जाती है।

नई कविता के परिमल गुट के अन्य लेखकों, जिन्होंने लघु मानव के बहाने नई कविता में एक बहस उठाई थी से इतर जगदीश गुप्त का मानना है कि इस लघु मानव की बहस से एक भ्रम पैदा होगा। जहां तक मनुष्य के दुःख और उसके हीनता के काव्याभिव्यक्ति का प्रश्न है वह तो होता ही है। परंतु वह जो स्थापित करते हैं वह यथार्थ की संगति के अनुरूप न होकर, युग के क्रियाशील मनुष्यों के जीवन मूल्यों को परखने स्थापित करने, युग गतिकी के अनुरूप विकसित करने की बजाए किसी प्रकृत मानव व्यक्तित्व और सहज मनुष्य को खोजने परखने के उत्साही हैं। वे कहते हैं "सहज एवं प्रकृतमानव-व्यक्तित्व को परखना या उपलब्ध करना ही वस्तुतः आधुनिक साहित्य का लक्ष्य है, उसकी लघुता का निरंतर गुणगान नहीं।" परंतु मानवीय सामाजिक चेतना के युगीन मनुष्य के अतिरिक्त तो मष्तिष्क की स्लेट को धोकर पूर्णतः साफ किए हुए मनुष्य शायद ओरांग ऊटांग से मनुष्य के विकास काल में मिले या शायद वहां भी न मिले।

नई कविता की जीवन-दृष्टि पर विचार करते हुए उन्होंने उसे 'ऋषि-दृष्टि' कहा है और बताया है कि वह 'अनेकमुखी जीवन को समग्र रूप से स्वीकार करती हुई वास्तविकता को विवेकयुक्त तटस्थ भाव से देखती है।'¹⁷ यहां जगदीश गुप्त की दृष्टि समाज के तात्कालिक संघर्षों से विमुखता और नई कविता को कला के दायरे तक सीमीत रखते हुए उसे समाज समीक्षा का मानदंड की बजाए एक अकर्मण कलावादी अभिव्यक्ति तक ही सीमित है। सकर्मक दृष्टि तटस्थ नहीं वरन संघर्ष के लिए पुकारती है। अगर नई कविता की जीवन दृष्टि अनेकमुखता का सार संग्रह हो तो वह गलत है। आधुनिक विवेक दृष्टि 'विवेकयुक्त तटस्थ भाव' नहीं वरन विवेकयुक्त पक्षधर भाव रखती है।

नई कविता के अनुभूति के आस्वाद पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि नई कविता ऐसी विधा है जो 'विवेक की जागृति अवस्था में भावक को यथार्थ अनुभूति के तल तक पहुंचा देने की क्षमता रखती है यह विधा काव्य-शास्त्रोक्त 'रसानुभूति' से नई किवता की भावानुभूति को मूलतः पृथक कर देती है। 'रसानुभूति के समकक्ष इसे 'सह-अनुभूति' की संज्ञा दी जा सकती है," यहीं यह काव्य शास्त्रोक्ति 'रसानुभूति' से नई किवता को पृथक करती है। नई किवता की इसी अनुभूति को सह अनुभूति कहा है। रामचंद्र शुक्ल ने चिंतामणि में रस के लिए दो बातों का का जिक्र है। एक भावक का अपने व्यक्तित्व के संबंध में भावना का परिहार और

दूसरा आलंबन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण। नई किवता का भावक अपने व्यक्तित्व को त्यागता नहीं और उसका उस तरह से साधारणीकरण भी नहीं होता वरन नई किवता की बौद्धिक अनुभूति भावक की दृष्टि को भाव-दृष्टि से जोड़कर एक सह-अनुभूतिमय भाव-तल प्रदान करता है। इस दृष्टि में भावक के हृदय में संवेदनात्मक जागृति के साथ जो अनुभूति होती है वह रसात्मक अनुभूति की तरह न होकर उससे तात्विक भिन्न है इसकी प्रभाविता ज्ञानयुक्त संवेदना है।

खड़ी बोली के विकास प्रक्रिया को रेखांकित करते हुए जगदीश गुप्त ने नई कविता के खड़ी बोली के अनुरूप उसके प्रकृति के अनुरूप और खड़ी बोली को उस युग परिस्थिति के अनुरूप बताया है। उन्होंने कहा कि नई कविता में 'कथन की सिधाई', कटाव का तीखापन, कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात कहने की उत्सुकता स्पष्ट लिक्षत है। कुल मिलाकर यह सब खड़ी बोली की प्रकृति और स्वभाव के अनुरूप है।"¹⁹

जगदीश गुप्त नई किवता के शास्त्र निर्माण, उसकी प्रकृति निर्धारण की बहस में एक प्रमुख नाम है। जब भी नई किवता का जिक्र होगा उनका स्मरण होगा। काव्य के अंतर्वस्तु और उसकी यथार्थवादी प्रकृति के निर्धारण की तरफ ध्यान देते हुए उन्होंने जो बात कही है वह विचारों की कसौटी पर कलात्मक शब्दावली के साथ अनुभववादी और दार्शनिक दृष्टि से बहुतायत त्रुटिपूर्ण है। सही विचार प्रणाली और विचार उद्भव की प्रक्रिया के निगाह से भौतिकवादी वस्तुपरकता का आभाव उसमें बहुतायत परिलक्षित है। काव्य के शिल्प और भाषा पक्ष के सवालों पर कई मामलों में सकर्मक और विचारोत्तेजक हस्तक्षेप उन्होंने किया है और नई किवता के छायावाद से अलग स्थापित करने की बहस में उसके शिल्प पक्ष पर उन्होंने तार्किकतापूर्ण विचार रखा है।

संदर्भ ग्रंथ

- 1. नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. फ्लैप पृष्ठ.
- 2. उपरोक्त, भूमिका पृष्ठ vi,
- 3. नई कविता : नई अभिरुचि, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.17
- 4. नई कविता : नई अभिरुचि, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.18
- 5. नई कविता : नया सन्तुलन, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.20
- 6. नई कविता : नया सन्तुलन, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.20
- 7. नई कविता : नया सन्तुलन, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.21
- 8. नई कविता : नया सन्तुलन, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.21
- 9. नई कविता: अर्थ की लय, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.25
- 10. नई कविता : अर्थ की लय, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.25
- 11. नई कविता : अर्थ की लय, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.28
- 12. नई कविता: अर्थ की लय, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.29
- 13. नई कविता : अर्थ की लय, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.30
- 14. नई कविता: नए मनुष्य की प्रतिष्ठा, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.35
- 15. नई कविता: नए मनुष्य की प्रतिष्ठा, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.35
- 16. नई कविता : नए मनुष्य की प्रतिष्ठा, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.37
- 17. रसानुभूति और सह-अनुभूति, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.42
- 18. रसानुभूति और सह-अनुभूति, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.42
- 19. आज की कविता: खड़ी बोली की एक नई भंगिमा, नई कविता, खंड एक सैद्धांतिक पक्ष. पृ.सं.58



www.transframe.in

ISSN 2455-0310